संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई- 282002 (आगरा) उ.प्र.

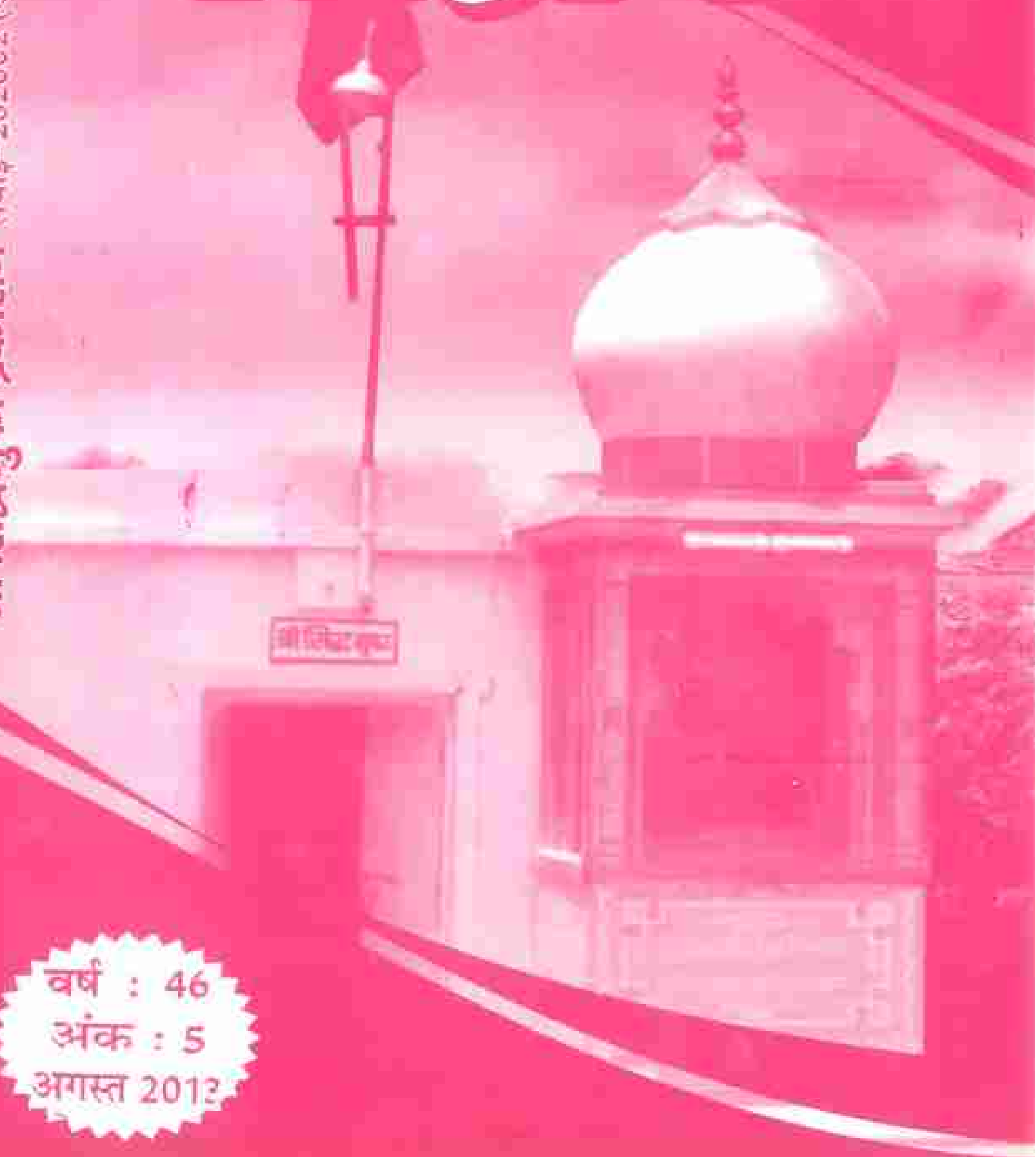

वर्ष : 46
अंक : 5
अगस्त 2013

अमृत कण

चला लक्ष्मीश्चला: प्राणाश्चलं जीवित यौवनम्।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चल:।।

(चाणक्यनीति दर्पण)

अर्थात् इस चराचर जगत में लक्ष्मी (धन सम्पदा), प्राण यौवन और जीवन (आयु) – सब चलायमान और नश्वर है, केवल एक धर्म ही निश्चल और शाश्वत् है। जो सदा साथ रहता है और मृत्यु के बाद भी साथ जाता है। अत: सुख प्राप्ति के लिए हमें धर्म का आचरण करना चाहिए। पापाचरण कदापि नहीं।

◆◆◆

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

(कठोपनिषद् 2/2/9)

अर्थात् जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके समान रूपवाला सा हो रहा है, वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपों में उन्हीं के जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है।

◆◆◆

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।

(गीता 5/29)

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थ रहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरत्तो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 46 अगस्त - 2013 अंक : 5

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन–
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/20

इस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप दृष्टि के सामने नहीं ठहरता। इस परमात्मा को कोई भी आँखों से नहीं देख सकता। जो साधकजन इस हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमेश्वर को भक्तियुक्त हृदय से तथा निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान लेते हैं, वे अमृत स्वरूप अमर हो जाते हैं।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	7
3.	नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो – डॉ. रमेश सिंह	10
4.	रेलगाड़ी कन्ट्रोलर नहीं, गुरुदेव के संकल्पाधीन	16
5.	पूर्ण योग से चिर शान्ति – डॉ. जे.पी. शर्मा	20
6.	पूजा का स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता – श्रीमती पद्मा बिन्नी	25
7.	भगवत्कृपा / गुरुकृपा – प्रो. ऋषिराम शर्मा	31
8.	योग-आसन कुक्कुटासन	32
9.	योग-आसन मत्स्यासन	33
10.	गीतामृत पदावली	34
11.	स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सदुपदेश	35
12.	दुनियाँ के वाली – जगदीश राए बंसल	40

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 150.00
द्विवार्षिक	: रु. 280.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 900.00

• विशेष लेख

विभूतिपाद की विभूतियाँ – 2

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भगवान पतंजलि देव ने अष्टांग योग का वर्णन किया, **यथा यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टापंगानि।**

किन्तु योग के इन आठ अंगों में यम नियम आसन प्राणायाम–प्रयाहार इन पाँचों की अपेक्षा धारणा–ध्यान समाधि अन्तरंग अंग हैं। किन्तु यह भी निर्जीव समाधि की अपेक्षा बहिरंग ही है। साधक ज्यों–ज्यों निरन्तर अभ्यास करता है। त्यों–त्यों उसके चित्त में विभिन्न प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। जिस समय साधक योगी अपना अभ्यास आरम्भ करता है तो उसका चित्त जो अभी तक सर्वथिता में लगा था। वह एकाग्रता के रूप में बदल जाता है। यह उस साधक के चित्त का एकाग्रता परिणाम है। साधक के चित्त का सर्वार्थकता का ज्ञान शान्त हो जाता है और एकाग्रता का ज्ञान उदय हो जाता है। यही शान्तोदित प्रत्यय कहलाते हैं। इसी प्रकार से साधक का चित्त ज्योंही एकाग्रता परिणाम को खोकर समाधि परिणाम में परिवर्तित होता है। त्योंही योगी के चित्त का समाधि परिणाम कहलाता है। इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से समाधि परिणान का आविर्भाव और निरोध परिणाम का आविर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार परिणित होता हुआ चित्त समाधि की सब भूमिकाओं में धर्मी बन करके परिणित में आता रहता है। धर्मी का लक्षण भगवान पतंजलिदेव ने अपने योग दर्शन में इस प्रकार कहा है –

शान्तोदिता व्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी।

अर्थात्– धर्मी वह कहलाता है जो भूत–भविष्य–वर्तमान में बराबर अनुगमन करता रहे। उदाहरण के लिए, इस बात को ऐसे समझना चाहिए जैसे घट–पट आदि परिणामों के अन्दर धर्मी मिट्टी कायम रहती ही चली जाती है। उदाहरणार्थ इस प्रकार समझिये। जैसे–कुम्हार ने खोदकर कुछ मिट्टी ली और पानी मिलाकर उसका गोला तैयार कर लिया अब यहाँ पर मिट्टी धर्मी है और वह मिट्टी गोला रूप धर्म परिणाम में बदल गई। उस गोले को कुम्हार ने एक मटके के रूप में बदल दिया। अब वही मिट्टी जो गोला रूप धर्म परिणाम में परिवर्तित हुई थी। अब वह मटके के रूप में बदल गई यह उसी धर्मी मिट्टी का मटका रूप धर्म परिणाम है।

मटका पका लिया गया फिर उसको तोड़–फोड़कर ठिक्कड़ बना लिया गया। मिट्टी घड़े में भी मौजूद थी और ठिक्कारों में भी, केवल उसके परिणामान्तर होते रहे। जब मिट्टी मटके के रूप में आई थी तब उसका नया मटका पुराना मटका कहकर अवस्था परिणाम था। लम्बे गले का मटका आदि–आदि लक्षण परिणाम था। इन तीनों परिणामों के अन्दर मिट्टी धर्मी रूप से अपनी जगह कायम रही उसमें कोई अन्तर नहीं आया चाहे वह मटका बनी कसोरा बनी ठीक कर बनी ठिक्कर टूट जाने के बाद मिट्टी का चूरण बन गया। मिट्टी वही मिट्टी रूप में आ गई। इस प्रकार से हमारे चित्त में एकाग्रता परिणाम समाधि परिणाम एवं निरोध आदि परिणाम हुए। धर्मी चित्त अपने विभिन्न परिणामों में अन्यान्य एकाग्रता आदि धर्मों के अन्दर परिवर्तित होता रहा। केवल मात्र निर्जीव समाधि के अन्दर जाकर जड़ चेतन की गाँठ टूट जाने पर आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जायेगा और चित्त उससे अलग होकर उसका गुणों में अवस्था हो जायेगा। चित्त का एक क्रम से दूसरे क्रम में बदल जाना ही परिणामान्तर का हेतु है। ज्यों–ज्यों साधक अपने अभ्यास को बढ़ाकर विवेक ज्ञान को निर्मल कर लेता है। तब उसके चित्त में सभी कुछ ग्रहण कर लेने की योग्यता बढ़ जाती है। वह जहाँ–जहाँ अपने चित्त को संयमित करता है वहाँ–वहाँ का ज्ञान तत्काल प्राप्त कर सकता है। अब योगी की इच्छा है कि वह अपने सधे हुए चित्त को कहाँ–कहाँ लगायेगा, उसे प्रकृति का कितना अध्ययन करना है। कितनी प्रकार की सिद्धियों को उपार्जित करना है। जिस प्रकार से एक अध्ययन करने वाले छात्र ने पढ़ते–पढ़ते अपने बुद्धि बल को इतना बढ़ा लिया है कि वह जिस विषय को पढ़ना आरम्भ करता है उसकी बुद्धि तत्काल ग्रहण कर लेती है और वह थोड़े से समय में उस विषय का भी विद्वान बन जाता है यदि वही विषय किसी अनपढ़ गँवार के सामने कहा जाए तो उसकी बुद्धि उस विषय को बिल्कुल भी ग्रहण न कर पायेगी और न वह यह समझ पायेगा कि उसको क्या कहा जा रहा है यह तो है बाह्य कोष के अध्ययन की बात। योगी भीतर की पढ़ाई पढ़ता है। उससे भीतरी विज्ञान का अध्ययन करके अपनी रूहानी शक्तियों को प्राप्त करना है और अपने आपको पूर्ण युक्त योगी का लक्षण श्रीमद्‌भगवदगीता में अखिल आत्मा भगवान श्री कृष्ण ने इस प्रकार कहा है –

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।
युक्त इत्युच्यते योगी सम लोष्ठाश्मकांचन:।।

युक्त योगी का लक्षण अखिलात्मा भगवान श्री कृष्ण बतलाते हैं कि जो योगी अपने संयम के आधार पर प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे लोग ज्ञान तृप्तात्मा बन जाते हैं। ऐसे महायोगी पंच महाभूतों पर विजय प्राप्त करके

भूतजयी होकर पंच महाभूतों पर पूर्ण अधिकार रखते हैं। उनके शरीर पर पृथ्वी–जल–अग्नि वायु और आकाश अपना किसी भी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं डालते। प्रत्युत योगी अपने मनोबल से भूतजयी होकर अपने शरीर में जैसे भी परिणाम पैदा करना चाहे कर लेता है। यह तो रही प्रकृति पर अधिकार की बात, इसके अतिरिक्त अपने विकास की ओर बढ़ता हुआ योगी शीघ्रातिशीघ्र आत्मबल से पूर्ण होकर प्रचण्ड भास्कर की तरह चमकने लगता है। अब उसका आत्म विज्ञान पर पूरा अधिकार है वह विकार रहित स्थिति में पहुँच गया है। इन्द्रियाँ पूरी–पूरी नियन्त्रण में हैं। ऐसे योगी की दृष्टि में लोहा, सोना, पत्थर सब समान है वह किसी के किसी प्रकार के प्रलोभन में नहीं आता। क्योंकि वह आत्मिक कोष को पूर्णरूपेण प्राप्त कर चुका है। उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है।

वह सब प्रकार से परिपूर्ण युक्त योगी है। प्रकृति के जिस प्रकार के ऐश्वर्य को वह प्राप्त करना चाहे तो क्षणमात्र के चिन्तन से ही प्राप्त कर सकता है। योगदर्शन के विभूतिपाद में योगियों को प्राप्त कुछ विभूतियों का वर्णन किया गया है। संयम सिद्ध योगी अपने संयम के बल से संयम करके किन–किन सिद्धियों को प्राप्त कर लिया करता है। इसका थोड़ा सा उल्लेख इस लेख के उपसंहार में कर देना ही उचित समझता हूँ और भी इन विभूतियों को खोलकर बतलाया जाय जिससे पाठक गण अपने मनोबल को बढ़ाकर अपने आत्मधन से धनी बन जाय। भगवान पतंजलिदेव चित्त के तीन परिणामों में संयम करने का दिग्दर्शन कराते हैं–

परिणाम त्रय संयमाद् तीतानागतज्ञानम्

योगी जिस समय चित्त के धर्म लक्षण अवस्था आदि के स्थानों में संयम करता है तो उसको अतीत और अनागत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। व्यास भाष्य की वार्तिक पढ़िये –

धर्मलक्षणावस्था परिणामेषु संयमाद् योगिनाम्

भवत्यतीतानागतज्ञानम् धारणा ध्यान समाधि त्रयमेकत्र

संयम उक्तः तेन परिणामत्रय साक्षात्क्रियमाणम तीता।

नागतज्ञानं तेषु संपादयति।

अर्थात् धर्मी चित्त के अनेकों धर्म परिणाम होते रहे अब ये धर्मी चित्त इस समय एकाग्रता परिणाम वाला है क्योंकि इसकी प्रकृति शान्त दिखलाई देती है, यह चित्त का लक्षण परिणाम है। यह चित्त बहुत पुराने समय से एकाग्रता को प्राप्त हुआ है और इसकी अवस्था उत्तरोत्तर ज्ञानमय है यह चित्त का अवस्था परिणाम कहा जाता है। जिस समय योगी चित्त के इन तीन परिणामों के अन्दर संयम करता है तो उसका भूत भविष्य का ज्ञान होते

लगता है। चित्त की निर्मलता एवं अभ्यास के बल से चित्त के अवशेष धर्मों के लक्षणों को पहचान करके भली प्रकार से जान जाते हैं कि उसके मन में क्या छिपे हुए भाव हैं। जैसा कि नीतिशास्त्र में कहा जाता है –

आकारैरंगतैर्गत्या चेष्टया भाषणे न च।
नेत्रवक्त्र विकारैश्च ज्ञायते अन्तर्गत मनः।।

अर्थात् – आकृति से इंगितो से चलने फिरने की गतों से हरकतों से अन्तर्गत मन का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान तो साधारण व्यक्ति को भी हो ही जाया करता है। किन्तु चित्त शुद्धि से होने वाला ज्ञान परम शुद्ध भ्रान्ति रहित शुद्ध ज्ञान होता है। वही ज्ञान सिद्धियों का रूप धारण कर लेता है। इस छोटे से लेख में हमने संयम का प्रकार समझाकर योगी को होने वाले अतीत अनागत ज्ञान को समझाया। पढ़ने वाले साधक गण इस लेख को पढ़कर यदि अपने आत्मिक कोष को प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे तो बहुत ही भला होगा।

● ● ●

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।।

कालचक्र बड़े वेग से घूम रहा है। उसका नियन्त्रण ईश्वर के अतिरिक्त किसी के हाथ नहीं। प्रत्येक प्राणी के अन्दर बाहर रहते हुए परमशक्तिशाली प्रभु ही अपनी इच्छा से कालचक्र घुमा रहे हैं। कालरूपी घोड़ा इस विश्व रथ को चला रहा है। इस घोड़े की सात मुख्य किरणों के सहारे ही यह विश्व यज्ञ चल रहा है। क्रान्तिदर्शी कवि उसके संचालक बनकर सिद्धि प्राप्त करते हैं।

(चाणक्य नीति)

कर्मसु कौशलम् योगः

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

कर्मों में कुशलता ही योग है। योग की इस परिभाषा में तीन शब्द प्रयुक्त हुये हैं – कर्मसु, कौशलम् एवं योगः। इन तीनों शब्दों को अलग–अलग योग–शास्त्रीय व्याख्या से समझ लेना अत्यावश्यक है। सर्वप्रथम कर्म शब्द को ही लें। कर्म क्या है? व्याकरण के अनुसार 'कर्तुशिप्सिततम कर्म' अर्थात् कर्त्ता के क्रिया के द्वारा जो अभीष्ट कार्य किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। कर्त्ता अपने लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए जो क्रिया सम्पादित करता है वह ही कर्म है।

योग दर्शन पर भाष्य करते हुए व्यासदेव जी महाराज ने कर्म की व्याख्या करते हुए कहा है – 'कुशलाकुशलानि कर्माणि' अर्थात् कुशल और अकुशल भेद से कर्म दो प्रकार के हैं और जो कर्म का फल बनता है उसे विपाक या कर्म विपाक कहते हैं। कुशल कर्म पुण्य के कर्म माने जाते हैं और अकुशल कर्म पाप के कहे जाते हैं। योग दर्शन में ही कुशल कर्म को शुक्ल–कर्म और अकुशल कर्म को कृष्ण–कर्म की संज्ञा दी है।

गीता में गुणों के भेद से सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के कर्म बताये हैं और इनके अलग–अलग फल बताये हैं। मनुष्य का कर्म करने में पूरा अधिकार है कर्म फल में उसका अधिकार नहीं है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' मनुष्य का अधिकार कर्म करने में है फल में उसका अधिकार नहीं है। कर्म का फल तो ईश्वरीय विधान के अनुसार ही मिलेगा। पाप कर्म का फल पुण्य के फल में बदल जाये यह नहीं हो सकता। लोग पाप करते हैं किन्तु चाहते हैं कि हम सुखी हों किन्तु वे सुखी नहीं हो पाते। पुण्य कर्म करने से ही सुख मिला करता है। 'कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकम् निर्मलं फलम्' पुण्य कर्म का सात्विक व निर्मल फल है। इसी से सुख मिलता है। **कर्म प्रधान विश्व करि राखा** (श्री राम चरित मानस)। संसार में कर्म प्रधान है जो जैसा करता है उसका वैसा ही फल मिलता है। भगवान गीता में कहते हैं –

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

अर्थात्, जो कर्मफल की इच्छा न रखते हुए कर्तव्य एवं विहित कर्मों को करता रहता है वह ही यथार्थ में संन्यासी है और योगी है, अग्नि का त्याग करने वाला या क्रियाओं का त्याग करने वाला न तो संन्यासी है और न ही योगी। आसक्ति रहित हुआ जितात्मा साधक कर्म करता हुआ कर्म संन्यास द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर से युक्त योगी कर्मफल को

त्याग कर अखण्ड सुख का भोक्ता बन जाता है और जो कर्मासक्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति है वह कर्मफल में बँध जाता है। गीता में भगवान के वचन हैं 'युक्त कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।'' योगी कर्मफल को त्याग शाश्वतसुख को पा जाता है। वेद भगवान की भी आज्ञा है – **कुर्वन्नेवह कर्माणि जिजिविषेत् शतः समाः** अर्थात् मनुष्य को आसक्ति रहित होकर कर्म करते हुए सौ वर्ष तक सुखपूर्वक जीने की इच्छा करनी चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य कर्मासक्ति बन्धन से छूट कर मोक्ष का भागी हो जाता है।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।

संकल्पों के त्याग बिना कोई योगी नहीं बनता। मनुष्य को संकल्प–विकल्प रहित होकर कर्म करते ही रहना चाहिए। इसलिए भगवान कहते हैं–

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

अर्थात् यज्ञ, तप और दान करते ही रहना चाहिए ये मनीषियों को भी पवित्र करते हैं अन्यों को तो करते ही हैं। अर्थात् मनीषि भी इन कर्मों का कदापि त्याग नहीं करते। अतः मनुष्य को नियत या विहित कर्म अवश्य ही करते रहना चाहिए। काम्य व निषिद्ध कर्मों को नहीं करना चाहिए। ये त्याज्य कर्म हैं। वैसे तो हर व्यक्ति अपने प्रकृतिज गुणों के परवश हुआ कर्म करता है। जैसे–जैसे मनुष्य का कर्म संस्कार होता है उसी के अनुसार कार्यों में बरतता है। मनुष्य से यदि कोई अकुशल या पाप कर्म बन जाये तो कुशल या पुण्य कर्म से अपने पुण्य की वृद्धि करे। पाप कर्म एक प्रकार से चित्त का मैल है उसे दूर करने के लिए साधक को शुभ काम करना चाहिए इससे चित्त का मैल साफ हो जाता है और साधक का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। कर्म विधान में जैसे काँटे को काँटे से ही निकाला जा सकता है ऐसे ही शुभ कर्म से अशुभ कर्म के काँटे निकाल कर दूर किये जाते हैं। यहाँ तक तो संक्षेप में कर्म की चर्चा हुयी है अब 'कुशल' शब्द पर विचार करते हैं। कर्मों में कुशलता ही योग है ऐसा कहा गया है। 'कुशल' शब्द कुशा से बना है। प्राचीन काल में गुरुकुल में शिष्य लोग आश्रम में पूजा के लिए कुशा लाते थे। कुशा की किनारी काफी पैनी होती है। उखाड़ने में यदि कोई असावधानी हो जाये तो हाथ छिल जाता है। जो कुशा लाने में प्रवीण हो उसे कुशल शिष्य कहा गया। कालान्तर में यह शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। जब कोई व्यक्ति अपने मित्र से मिलता है तो सर्व प्रथम कुशल–क्षेम पूछता है। ''आप कुशल से तो हैं?'' उत्तर मिलता है 'हाँ! मैं कुशल से हूँ। कभी कोई व्यक्ति दूसरे को बताता है। वह व्यक्ति सकुशल घर पहुँच गया है। इस प्रकार से 'कुशल' शब्द आज अत्यन्त व्यवहारिक हो चुका है। योग के संदर्भ में 'कुशल' शब्द की चर्चा ऊपर विस्तार से हो चुकी है। योग विज्ञान में 'कुशल' शब्द का अर्थ हुआ पुण्य कर्म इस प्रकार से कर्मों में कुशलता का अर्थ है कर्म करते हुए इस बात का ध्यान रखा जाये कि यह कर्म कहीं अकुशलता का अथवा पाप से संलिप्त तो नहीं है। पाप का लेश रहा तो वह पाप–पुण्य का मिश्रित रूप ले लेगा और इसका विपाक अच्छा नहीं

रहेगा। इसलिए ही भगवान कहते हैं कि कर्म तो योगी भी करते हैं किन्तु उनके कर्म आत्म–शुद्धि के लिए होता है।

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वा आत्मशुद्धये' 'योगी लोग आत्मशुद्धि' के लिए कर्म करते ही रहते हैं। सत्कर्म से दुष्कर्म के विपाक को कम व नष्ट किया जा सकता है। व्यक्ति के ध्यान योग के विज्ञान से सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म नष्ट किये जा सकते। **ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।** ध्यान योग का ही नाम ज्ञानाग्नि है इससे सम्पूर्ण कर्म बीज सहित दग्धभाव को प्राप्त हो जाते हैं। इसी को कह सकते हैं योग के द्वारा कर्मो का कुशलतापूर्वक नाश। यही है कर्मो की कौशलता या निपुणता। योगध्यान से सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मो का नाश एवं तत्व ज्ञान की प्राप्ति होती है। योगी को पुण्य कर्म भी बन्धन के कारण दिखाई देते हैं इसलिए वह केवल आत्म–शोधन के लिए ध्यान योग का अवलम्ब लेता है।

● ● ●

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।

प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनः।।

अपनी–अपनी प्रवृत्ति शिक्षा–दीक्षा के अनुसार सबके श्रद्धा केन्द्र अलग–अलग होते हैं। ब्राह्मणी प्रकृति के व्यक्ति यज्ञ द्वारा श्रद्धा व्यक्त करते हैं, संसार से विरक्त मुनियों का श्रद्धा केन्द्र उनका हृदय ही होता है। जो ज्ञानी नहीं होते, निराकार प्रभु पर ध्यान एकाग्र नहीं कर सकते हैं उनके लिए कोई मूर्ति ही श्रद्धा केन्द्र बन जाती है। वे मूर्ति पूजक बन जाते हैं।

(चाणक्य नीति)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

– डॉ. रमेश सिंह, प्राचार्य
इन्दिरा गाँधी गर्ल्स डिग्री कॉलेज–रामपुर, तारामण्डल, गोरखपुर

मनुष्य जब जन्म लेता है तो वह सर्वप्रथम बाहर देखता है, तत्पश्चात् वह भीतर देखता है तथा अन्त में ऊपर की ओर देखने की प्रवृत्ति पायी जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि चिन्तन प्रक्रिया में बाह्य जगत पहले आता है तदुपरान्त अन्तर्जगत के बारे में मनुष्य सोचता है। तत्पश्चात् सबको नियन्त्रित करने वाली सत्ता के बारे में सोचता है। पाश्चात्य दार्शनिक **जॉन केअर्ड** ने अपनी पुस्तक "Evolution and Religion" में इसी बात को बड़े सुन्दर ढंग से कहा है – **Man looks outward before he looks inward, he looks inward before he looks upward.** दर्शन के क्षेत्र में आत्मा के सम्बन्ध में मतवैभिन्य है। मनुष्य के मस्तिष्क की संरचना के आधार पर उसके समक्ष चिन्तन के तीन पथ विद्यमान हैं – "He can look out ward upon the world around him, he can look inward upon the self within him; and he can look upward to the God above him to the king who unites the outward and inward worlds and who manifest himself in both. " (Evolution and religion) कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य स्वभावत: बहिर्मुखी होता है। सबसे पहले वह अपने आस–पास व चारों तरफ के जगत प्रपंच को देखता है। मनुष्य के पास सोचने का दूसरा विकल्प यह होता है कि वह अपने बारे में अन्तरात्मा के बारे में सोच सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के पास एक तीसरा विकल्प भी होता है। वह इन दोनों से परे एक ऐसी सत्ता के बारे में सोच सकता है जिसे ईश्वर कहा जाता है जो बाह्य जगत व अन्तर्जगत को जोड़ता है व दोनों में अपने को अभिव्यक्त करता है। बाह्य जगत मनुष्य के लिए सहज सुलभ है। अधिकांश लोगों में बाह्य जगत में सहज वृत्ति होती है। बहुत कम लोग अन्तर्जगत की ओर उन्मुख होते हैं। जीव जब जगत में आता है तो वह अपने साथ जन्म जन्मान्तर के संस्कारों की गठरी भी लाता है। जीव व जगत के सन्निकर्ष से जिस संस्कार संकुल का सृजन होता है वह जीव के साथ अध्यासित है। वह एक मिथ्यारोपित दृष्टि साथ लेकर आता है। इसलिए जगत उसे स्वाभाविक लगता है।

अब प्रश्न उठता है कि कैसे कोई जीव अन्तर्जगत की ओर उन्मुख होता है? इसके साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि क्या अन्तर्जगत की कोई सत्ता है? अन्तर्जगत की सत्ता का अपलाप तो संभव नहीं है। यह स्वयं में वदतोव्याघात है। कैसे कोई व्यक्ति स्वयं की सत्ता का खण्डन कर सकता है। मैं की सत्ता का खण्डन करने में वदतोव्याघात नामक तार्किक दोष हो जाता है।

पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ने कहा है – "I think therefore I am". अर्थात् मैं सोचता हूँ अत: मैं हूँ।' इस प्रकार उसने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है। मैं के स्वरूप के सम्बन्ध में विचारकों एवं दार्शनिकों में मत वैभिन्य हो सकता है, किन्तु 'मैं' की सत्ता के सम्बन्ध में लगभग सभी दार्शनिक एकमत हैं। कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने आत्मा को प्रत्यय के रूप में व्याख्यापित करने की कोशिश की है। इसमें पाश्चात्य दार्शनिक **ह्यूम** का नाम प्रमुख है। वे कहते हैं कि जब भी वे अपने अन्तर्जगत में आत्मा को खोजने का प्रयास करते हैं तो उन्हें प्रत्ययों (Ideas) के अलावा किसी आत्मा की सत्ता का बोध नहीं होता। दूसरे शब्दों में वह यह भी कहता है कि आत्मा 'प्रत्ययों का समूह' (Bundle of Ideas) है। एक अन्य पाश्चात्य दार्शनिक **गिलबर्ट रायल** ने कहा है कि "There is no ghost in the machine" प्रतीकात्मक रूप से उसने कहा कि आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। ह्यूम ने आत्मा को विषय के रूप में खोजने का प्रयास किया है यहीं पर उनसे त्रुटि हो गयी। आत्मा विषय (object) नहीं है वह तो विषयि (Subject) है। विषयि को विषय कैसे बनाया जा सकता है। जो खोजने वाला है वही तो आत्मा है। इस प्रकार खोजने वाले को खोज का विषय नहीं बनाया जा सकता है।

भारतीय सन्दर्भ में उपनिषदों में आत्मा की अवधारणा का बहुत ही सुस्पष्ट चिन्तन मिलता है। व्युत्पत्यात्मक रूप से आत्मा श्वसन का सिद्धान्त (Breathing principle) है बाद में क्रमश: संवेदन (feeling), मन (mind), आत्मा (Soul) व चेतन (Spirit) के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। आदि शंकराचार्य ने कठोपनिषद् पर अपनी टीका में एक श्लोक उद्धृत किया है जो आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थों को उद्घाटित करता है –

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह।
यच्चस्य सन्ततो भावस तस्माद् आत्मेति कीर्त्यते।।

इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा वह है जो सबको अपने अन्दर व्याप्त कर लेता है, जो विषयि है एवं जो ज्ञाता है, अनुभवकर्त्ता है तथा विषयों को प्रकाशित करता है, जिसका विनाश नहीं होता और जो अपरिवर्तनीय है।

आत्मा के सम्बन्ध में अनेक वैकल्पिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। एक विचार के अनुसार आत्मा को प्रकृति के माध्यम से रूपायित करने का प्रयास किया गया है और इसका प्रकृति में उपलब्ध किसी सिद्धान्त से तादात्म्य किया गया है। आत्मा को प्रकाश का सिद्धान्त (Principle of light) कहा गया किन्तु प्रकाश को भौतिक अर्थों में ही लिया गया है। छांदोग्य उपनिषद् में एक रूपक मिलता है जिसमें हम आत्मा का विकास क्रमश: जाग्रत अवस्था, स्वप्न अवस्था, सुषुप्ति अवस्था से होते हुए तुरीय अवस्था या पूर्ण अवस्था की ओर पाते हैं। देवता व असुर आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा लेकर प्रजापति के पास जाते हैं। वहाँ जो उत्तर मिलता है उसके अनुसार आत्मा ऐसी सत्ता (Entity) है जो मृत्यु व जीवन, भूख व प्यास, इच्छा

व आशा से परे है तथा जो कुछ भी नहीं सोचता है या कल्पना करता है। इस प्रकार हमें यह स्पष्ट होना चाहिए कि वास्तव में आत्मा क्या है? क्या यह शरीर है? क्या यह मन है? अथवा क्या यह इन दोनों से भिन्न है तथा अतीन्द्रिय है। इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि आत्मा जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था का अनुभवकर्ता है। अतीन्द्रिय अवस्था (State of transcendence) में आत्मा या अन्य किसी वस्तु का बोध नहीं रहता है।

दूसरे दृष्टिकोण से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि आत्मा वह है जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति व तुरीय अवस्था में उपस्थित रहता है। वह इन सभी का अधिष्ठान है। आत्मा सार्वभौमिक, अन्तर्यामी व अतीन्द्रिय है। वह विषयि है। उसे विषय नहीं बनाया जा सकता है। आत्मा के अस्तित्व के बिना किसी भी प्रकार के ज्ञान की अवधारणा संभव नहीं है। इस प्रकार छांदोग्य उपनिषद का रूपक आत्मा के वास्तविक स्वरूप का चित्रण करता है। किन्तु अनुभववादी सन्देहवादी व व्यवहारवादी आत्मा को 'प्रत्ययों के समूह' (bundle of ideas) के रूप में मानते हैं। ग्रीक दार्शनिक हेराक्लीटस कहता है कि परिवर्तन ही सत् है। हम एक नदी में दो बार स्नान नहीं कर सकते हैं। अनुभववादी दार्शनिक **लॉक** मन को कोरा कागज कहता है जिसमें अनुभव अपने संवेदन (Sensation) व स्वसंवेदन (Perception) रूपी अँगुलियों से लिखता है। अनुभववादी दार्शनिक बर्क के भी कहता है कि सुषुप्ति (Sleep) व तुरीय (Trans) की अवस्था में आत्मा का अस्तित्व नहीं रहता है। विलियम जेम्स आत्मा को विचारों की धारा कहता है। वह कहता है –

The passing thoughts themselves are the thinkers and the psychology need not to look beyond.

माण्डूक्य उपनिषद में आत्मा के बारे में विशद विवेचन मिलता है। यहाँ आत्मा का विशुद्ध चेतना (Pure consciousness) से तादात्म्य किया गया है तथा प्रतीकात्मक रूप से 'ओउम' से अभिहित किया गया है। ओउम के तीन मन्त्र अ, उ, म क्रमशः जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था तथा चौथा अमात्र तुरीय अवस्था का द्योतक है। यह अवस्था चेतना की अतीन्द्रिय अवस्था (transcendental state of consciousness) है। चेतना की उपर्युक्त चारों अवस्थाओं को दृष्टिगत रखते हुए आत्मा के चार रूपक प्रस्तुत किये गये हैं –

माण्डूक्योपनिषद् के पहले ही मन्त्र का उद्घोष दृष्टव्य है

ओमित्येतदक्षरमिदँसर्व तस्योपव्याख्यानं भूतं भवभ्द्विष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्थत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एवं।।1।।

यहाँ सब कुछ ओंकार है। पूर्ण ब्रह्म परमात्मा साकार भी है, निराकार भी है तथा साकार निराकार दोनों से रहित भी है। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है तथा वे इससे सर्वथा अलग भी हैं। वे सर्वगुणों से रहित, निर्विशेष भी हैं और सर्वगुण सम्पन्न भी है। दूसरे मन्त्र में ब्रह्म एवं

आत्मा का तादात्म्य एवं इसके चतुष्पाद का वर्णन किया गया है –

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।।2।।

(1) पहला पाद जाग्रत अवस्था का है जिसमें आत्मा का स्थूल जगत से तादात्म्य किया जाता है तथा इसे वैश्वानर कहा गया है।

जागरित स्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।।3।।

जो विश्व अर्थात् बहुत भी हो और नर भी हो, उसे वैश्वानर कहते हैं – इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्थूल जगत रूप शरीर वाले सर्वरूप परमेश्वर को यहाँ वैश्वानर कहा गया है। ब्रह्मसूत्र के अध्याय 1 के पाद दो के सूत्र 24 में यह स्पष्ट है कि आत्मा व ब्रह्म इन दोनों का वाचक जहाँ 'वैश्वानर' पद आये वहाँ वह परब्रह्म परमेश्वर का ही वाचक है, जीवात्मा या अग्नि का वाचक नहीं है।

(2) द्वितीय पाद स्वप्न अवस्था का है जिसमें आत्मा का आन्तरिक जगत (internal world) से तादात्म्य किया जाता है। यहाँ सिर्फ स्वप्न के विषय रहते हैं तथा आत्मा स्वयं काल्पनिक विषयों का सृजन करता है। यहाँ इसे 'तैजस' कहा जाता है।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।।4।।

वह तैजस अर्थात् सूक्ष्म प्रकाशमय हिरण्यगर्भ उन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का दूसरा पाद है।

(3) सुषुप्ति की अवस्था में बाह्य या आन्तरिक कोई विषय नहीं रहता है। यहाँ विषयि व विषय के द्वन्द्व का निरसन हो जाता है। यहाँ आत्मा को 'प्राज्ञ' कहा जाता है। इस अवस्था में चेतना या आत्मा का अस्तित्व रहता है क्योंकि सोकर उठने के बाद हम यह कहते हैं कि आज बहुत अच्छी नींद आयी। इस कथन से सिद्ध होता है कि सुषुप्ति अवस्था में भी आत्मा का अस्तित्व होता है। किन्तु कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने संदेह प्रगट किया है कि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा का अस्तित्व होता है। इस कोटि में हेगल व हेगेलियन यथा ब्रैडले बोसांके, हीरा लाल हलधर आते हैं। भारतीय सन्दर्भ में नैयायिक व मीमांसक भी ऐसा ही मानते हैं।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।।5।।

(4) तुरीयावस्था विशुद्ध चेतना की अवस्था है जिसमें विषय शून्यता होती है। ऐसी अवस्था में सभी द्वैत व बहुत्व (नानात्व) का निरसर हो जाता है। इसे चतुर्थ पाद कहा गया है इसमें आत्मा शान्तम्, शिवम् व अद्वैतम् की स्थिति में होती है।

यहाँ यह प्रश्न बहुत स्वाभाविक है कि सुषुप्ति व तुरीय अवस्था में क्या अन्तर है। इसके उत्तर के रूप में हम कह सकते हैं सुषुप्ति के बाद पुनः स्थूल जगत में वापसी संभव है अर्थात्

स्थूल जगत जीव को व्याप्त करता है। किन्तु तुरीय स्थिति प्राप्त करने के बाद पुन: स्थूल जगत की गति व्याप्त नहीं कर पाती। तुरीय अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् सांसारिक विषयों से आसक्ति का पूर्ण निरसन हो जाता है। इस प्रकार तुरीय आत्मा की असंग अवस्था का नाम है। यह विशुद्ध चेतना की अवस्था है। इस लिए इस अवस्था से अन्तिम सत्ता का तादात्म्य किया गया है।

आत्मा की तीन अवस्थायें हैं – (1) शान्तम (2) शिवम्, व (3) अद्वैतम्। पहली अवस्था में किसी भी प्रकार की अशान्ति का अभाव होता है। इस अवस्था में आत्मा पूर्ण शान्ति (Quiescent) की अवस्था में रहता है। दूसरी अवस्था में आत्मा में किसी भी तरह के अभाव की स्थिति नहीं होती। इसे अभाव रहित (Want less state) अवस्था भी कहते हैं। आत्मा की इस अवस्था को 'शिवम्' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। तीसरी अवस्था हर प्रकार के द्वैत व नानात्व से रहित है। यह जगत बहुत्व से परे की अवस्था है। इसे प्रपंच शमन की अवस्था कहते हैं। आत्मा को विकल्पास्पद कहा गया है अर्थात् सभी भेदों का अधिष्ठान। यह अद्वैतम् की स्थिति है। आत्मा न तो शरीर है, न इन्द्रिय है यह पूर्ण विशुद्ध चैतन्य है। चौथे पाद का वर्णन माण्डूक्योपनिषद् के सातवे मन्त्र में इस प्रकार किया गया है –

नान्त:प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयत: प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेय:।। 7।।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या हम आत्मा को जान सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह स्पष्ट कर देना सही होगा कि उपनिषद् – चिन्तन में ब्रह्म व आत्मा को एक ही अर्थ में किया गया है तथा आत्मा का विशद चिन्तन मिलता है। आत्मा की ज्ञेयता के सम्बन्ध में कठोपनिषद् कहता है –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।। 23।। वल्ली–वल्ली

इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा न तो तर्क से, न बुद्धि से तथा न आत्मा के विषय में बहुत सुनने से प्राप्त होता है। यह उसे प्राप्त होता है जिसे यह चुन लेता है। यहाँ कृपा मार्ग पर बल दिया गया है।

केन उपनिषद् में भी कहा गया है कि आँखें वहाँ जाने में असमर्थ हैं, वाणी व मन भी उसे समझने में असमर्थ है, जो कुछ भी ज्ञात है, वह उससे परे है। यह कहा गया है कि वह जो नहीं सोचता है नहीं जानता है और वह जो सोचता है वह आत्मा को वास्तव में नहीं जानता है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये

नस्तद्वयाचचक्षिरे।।3।।

केनोपनिषद्, प्रथम खण्ड बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है उसे कैसे जाना जा सकता है। ज्ञाता को जानना असंभव है। तैतरीय उपनिषद् में भी कहा गया है कि वाणी उस तत्व को समझने में असमर्थ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि जो सबका ज्ञाता है, उसे कैसे जाना जा सकता है। दृष्टा को दृश्य का विषय बनाना, विचारक को विचार का विषय बनाना संभव नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं लगभग सभी उपनिषद् अपने दृष्टिकोण में अज्ञेयवादी हैं। परम सत्ता का ज्ञान संभव नहीं है, जो निरुपाधिक व सम्बन्धातीत है उसे कैसे जाना जा सकता है। जर्मन दार्शनिक कॉण्ट का भी दृष्टिकोण उपनिषदों से मिलता जुलता है। काण्ट भी अज्ञेयवादी है। हैमिल्टन भी अपने दृष्टिकोण में अज्ञेयवादी है और वह कहता है कि ब्रह्म व आत्मा को जाना नहीं जा सकता। इस प्रकार उपनिषद् के विमर्श में आत्मा अवेद्य है। कहीं–कहीं हम पाते हैं कि परमसत्ता को अपरोक्षानुभूति (Immediate experience) से जान सकते हैं जहाँ विषयि व विषय का भेद समाप्त हो जाता है।

● ● ●

काष्ठपाषाणधातूनां कृत्वाभावने सेवनम्।
श्रद्धया च तया सिद्धस्तस्य विष्णु प्रसीदति।।

भावना या श्रद्धापूर्वक यदि लकड़ी, पत्थर या धातु निर्मित मूर्ति की भी पूजा की जायेगी तो सर्वव्यापक परमात्मा भक्त की भावना से प्रसन्न होंगे। उस अटूट श्रद्धा से भक्त को कोई–न–कोई अच्छा फल अवश्य मिलेगा। जड़ वस्तु में भी ईश्वर का निवास है, अस्तु, ईश्वर को ही वृत्ति मानकर उसका आदर करना अच्छा है।

(चाणक्य नीति)

रेलगाड़ी कन्ट्रोलर नहीं, श्री गुरुदेव के संकल्पाधीन

आदरणीय भाई श्री अशोक श्रीवास्तव जी झाँसी जनपद के मूल निवासी हैं। झांसी शहर में इनका पुस्तैनी मकान है। श्री भाई जी ने एक मकान बना लिया है, जहाँ इस समय इनका निवास स्थान है। इस समय इनकी उम्र लगभग चौसठ वर्ष है। इनका प्रारम्भिक काल का शरीर बड़ा ही दुबला–पतला एवं कमजोर था और हाई स्कूल परीक्षा तक, जैसा कि बच्चों का स्वभाव होता है आपस में बात–बात पर झगड़ते रहते हैं, इनका जब किसी बच्चे से झगड़ा होता था, दूसरा बालक इन पर भारी पड़ता एवं इन्हें मारपीट दिया करता था। कहावत प्रसिद्ध है कि कायस्थ लोग शरीर से भले ही कमजोर हों परन्तु उनकी बुद्धि बहुत तीव्र होती है। श्री अशोक श्रीवास्तव जी ने अपनी बुद्धि से काम लिया एवं अपनी क्लास के एक शक्तिशाली लड़के से मित्रता कर ली। जब मित्रता बढ़ गयी तो उससे पूछा कि ''तुम्हारे अन्दर इतनी ताकत क्यों है?'' उसने कहा कि मैं जीवन तत्व साधन जो योगियों की क्रिया है, करता हूँ। इसी कारण हमारा शरीर इतना ताकतवर है।' इन्होंने उससे कहा कि – वह हमें भी सिखा दो।'' इनके मित्र ने प्रश्न किया कि – तुम्हारा खान पान ठीक है, तुम अण्डा वगैरह तो कुछ नहीं खाते इन्होंने उत्तर दिया कि 'कभी कभी खा लेता हूँ। उसने कहा कि पहले प्रतिज्ञा करो कि जिन्दगी में अण्डा कभी नहीं खाऊंगा, तब मैं यह कृपासाधन तुम्हें बतलाऊंगा। इन्होंने उसी दिन प्रतिज्ञा किया एवं अपने मित्र से जीवन तत्व साधन की क्रिया को सीख लिया, साथ ही नित्य नियम से वह जीवन तत्व साधन करने लगे। इसी समय इनकी मुलाकात हमारे परम आदरणीय गुरुभाई एवं आराध्यदेव जी के लाड़ले शिष्य श्री ईश्वरी प्रसाद खण्डर जी से हो गयी। उन्होंने श्री अशोक जी को योगी साधक बनने के लिए काफी उत्साहित किया। श्री खण्डर भाई साहब उच्चकोटि के साधक थे। उनकी बातों का इनकी बाहरी एवं भीतरी जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

इन्हीं दिनों इनकी तबियत ज्यादे खराब हो गयी एवं दवाओं का रोग पर कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं रहा। हमारे आपके गुरुदेव योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का उसी समय झांसी का योग प्रचार कार्यक्रम चल रहा था। इनकी आदरणीया माता जी ने कहा कि इस समय एक योगीराज जी झांसी में योग का प्रचार करने आये हैं, तुझे वहाँ तेरे रोग के निवारणार्थ ले चल रहे हैं। ये अपनी माता जी के साथ योग प्रचार स्थल पर पहुँच गये। माँ पुत्र ने श्री चरणों में प्रणाम निवेदित किया। आराध्यदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने चिर परिचित की तरह प्रश्न किया – 'लल्ला! तुम दीक्षा लेने आ गये।'' इन्होंने निवेदन किया कि ''महाराज जी मैं तो अपने रोग के निवारणार्थ आया हूँ।'' श्री आराध्यदेव जी ने कहा कि नहीं लल्ला! तुम दीक्षा

लेने आये हो। श्रद्धेय श्री खड़ार बाबा ये वार्तालाप सुन रहे थे, उन्होंने इनकी बाँह पकड़कर अपनी तरफ किया एवं कहा कि बस गुरुदीक्षा ले लो। उन्होंने इनको वहीं बैठा लिया और इनकी माता जी से कहा कि दीक्षा में ये–ये सामान लगेगा, जल्दी लेकर आओ।' इनकी माता जी दीक्षा का सामान लेकर आयी एवं उसी दिन इनकी दीक्षा सन् उन्नीस सौ अरसठ में झांसी के कार्यक्रम में हुई।

दीक्षोपरान्त इन्होंने नियमित श्री योगेश्वर द्वय की आरती पूजा आरम्भ कर दिया एवं थोड़ा बहुत मंत्र जप भी किया करते थे। इन्हीं दिनों की एक घटना है। हमारे आदरणीय गुरुभाई श्री मानिक चन्द्र शर्मा जी से अचानक इनकी मुलाकात झांसी रेलवे स्टेशन पर हो गयी एवं उन्होंने इनसे कहा कि गुरु जी गाड़ी पकड़ने झांसी आ रहे हैं, लेकिन गाड़ी तो अब जाने वाली है। लड़कपन का स्वभाव, ड्राइवर गाड़ी स्टार्ट कर रहा था, इन्होंने उसके पास जाकर कहा कि ''भाई साहब, थोड़ी देर गाड़ी रोक लीजिए, हमारे गुरुदेव को इसी गाड़ी से जाना है और वो बस स्टेशन पहुँचने ही वाले हैं। ड्राइवर ने मुस्कराते हुए कहा–गाड़ी कन्ट्रोलर के आदेश से चलती है।' बेचारे ड्राइवर को क्या पता कि गाड़ी को रोकने के लिए कहने वाला बालक त्रिलोकी के कन्ट्रोलर का पुत्र है। यह कहते हुए ड्राइवर ने गाड़ी चालू कर दी। गाड़ी स्टार्ट तो हो गयी परन्तु पचास मीटर आगे जाकर रुक गयी। गाड़ी रुकने के बाद ड्राइवर ने पहले मोटे तौर पर चेक किया एवं फिर सूक्ष्मता से गाड़ी रुकने का कारण जानना चाहा परन्तु उसे गाड़ी रुकने का कारण ज्ञात नहीं हो सका। वह लगभग आधे घण्टे तक अकारण गाड़ी रुकने का रहस्य पता करता रहा। इसी बीच हमारे आराध्यदेव श्री गुरुदेव जी स्टेशन के प्लेटफार्म पर चरण कमल रखते दिखलायी दिये। उपस्थित गुरु भाई बहनों ने उन्हें माल्यार्पण कर प्रणाम किया। उधर स्टेशन पर गाड़ी चलने के लिए सीटी दे रही थी। भाई श्री अशोक जी ने हाथ जोड़कर श्री गुरुदेव भगवान से प्रार्थना किया – 'प्रभो! थोड़ा तेजी से चलें, वरना गाड़ी छूट जायेगी।' श्री गुरुदेव भगवान जी अपनी सहजावस्था में धीरे–धीरे अपनी मस्ती में चल रहे थे, श्री अशोक जी से कहे – लल्ला, जब तक तुम नहीं कहोगे, ड्राइवर क्या ड्राइवर का बाप भी गाड़ी नहीं चला पायेगा। आराध्यदेव अपनी उसी सहजभाव की चाल से चलकर अपने पार्षदगणों के साथ गाड़ी में सवार हो गये। तदनन्तर भाई श्री अशोक जी से मुस्करा कर बोले, लल्ला! ड्राइवर से कहकर गाड़ी चलवाओ। भाई श्री अशोक जी ने कहा कि ठीक है प्रभुजी । इसके बाद ये दौड़ते हुए ड्राइवर के पास गये एवं बोले – 'अब गाड़ी चलाओ।' ड्राइवर ने कहा कि 'मैं तो चलाने का प्रयास करके थक गया हूँ। श्री अशोक जी ने कहा कि सिर्फ एक बार और चलाने का प्रयत्न करो। उसके इस बार के प्रयास में गाड़ी चलना आरम्भ कर दी। ड्राइवर गाड़ी चलाते हुए चला जा रहा था परन्तु पीछे गर्दन घुमा घुमाकर बालक अशोक को देख रहा था। शायद उसने यह अनुभव किया होगा कि यह बालक सृष्टि के कन्ट्रोलर का सबसे प्यारा पुत्र है।

एक रोग का उपचार कराते कराते भाई श्री अशोक जी निराश हो गये थे। निराशा की इसी हालत में इन्होंने सोचा कि अब यह रोग इस जीवन के साथ ही जायेगा, अतः आत्महत्या ही कर लेना उचित है। यह विचार पक्का हो जाने पर उन्होंने श्री गुरुदेव भगवान को पत्र लिखा। उसमें लिखा गया था कि हे गुरुदेव भगवान् अपने बालक का अन्तिम साष्टांग प्रणाम स्वीकार करने की कृपा की जाय। अमुक रोग से निराश होकर मैं आत्महत्या कर रहा हूँ। पत्र लिखने के बाद कपड़ा पहनकर पोस्ट ऑफिस में पत्र छोड़ने के लिए जाना चाहते थे। उसी समय पोस्ट मैन ने आकर इनको एक पत्र दिया। पत्र श्री गुरुदेव का था। जिसे आराध्यदेव ने स्वयं अपने हाथ से लिखा था। पत्र में आशीर्वाद के बाद लिखा था लल्ला! अशोक तुमने अमुक रोग से निराश होकर आत्महत्या का मन बनाया है, यह गलत है। तुम पत्र पाते ही अपने बड़े गुरुभाई ईश्वरी प्रसाद के पास चले जाओ। उनसे रोग की बात बतलाकर, वे जैसा कहें वैसा कर लेना, तुम्हारा रोग सदा सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेगा। इन्होंने गुरु आज्ञा का अक्षरशः पालन किया एवं भाई श्री अशोक जी का वह रोग दूर हो गया।

सन् उन्नीस सौ बहत्तर के जनवरी में इनकी शादी हुई। ये उसी साल गुरुपूर्णिमा पर सपत्नीक दीक्षित हुए। और तभी से ये दम्पत्ति लगातार आरती पूजा, मंत्र जप एवं स्वाध्याय कर रहे हैं। लगभग शादी के बाइस वर्ष के बीच इनकी पत्नी की गोद कई बार लड़के-लड़कियों से भरी परन्तु दो तीन सालों में ही खाली होती गयी। अब ये दम्पत्ति संतान प्राप्ति से निराश ही हो चुके थे कि एक दिन प्रातः मंत्र जप करते हुए भाई अशोक जी का ध्यान लग गया एवं ध्यान में ही श्री गुरुदेव भगवान ने कहा कि तुम्हारे यहाँ एक महान पुण्यात्मा योगी साधक का जन्म हो रहा है, उसका पालन-पोषण खूब हाईकोर्ट का करना। शादी के बाइसवें वर्ष इन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। इस परिवार के तीनों पुण्यात्माओं का मध्यप्रदेश के योगेश्वर द्वय के एक योग प्रचार कार्यक्रम में मुझे सपत्नीक दर्शन लाभ करने का मौका मिला एवं उनसे सुनकर आप लोगों को जानकारी में देने का उद्देश्य मात्र यही है कि श्री गुरु चरणों में साधकों की श्रद्धा का विकास हो।

इन सब कृपा चरित्रों को पढ़ने, समझने एवं चिंतन करने पर हमारी समझ में तो यही बात आती है कि मेरे गुरुदेव के समान और कोई सृष्टि में है ही नहीं। हमारे इस विचार को योगिराज श्री देवरहा बाबा के ये शब्द अक्षरशः समर्थन करते हैं –

"मेरे लिए यह महान आश्चर्य है और मेरी आँखों पर मुझे स्वयं विश्वास नहीं होता कि ये सही अवलोकन कर रही हैं या गलत। क्या आप वही योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज के परम प्रिय राजकुमार श्री चन्द्रमोहन जी महाराज हैं जिनके दर्शनों के लिए देवगण रात दिन हाथ जोड़े प्रार्थना किया करते हैं और आप एकदम जनसाधारण के मध्य साधारण प्राणी की तरह जीवन व्यतीत करते हुए, श्री प्रभुजी का आरती पूजन करते हुए उनकी यश कीर्ति, पताका देश के प्रत्येक शहर, गाँव एवं गली गली में महान उत्साह के साथ फहराते हुए

योग का डंका बजा रहे हैं। आप धन्य हैं, आप धन्य हैं।

मुझे तो उन करुणासागर की कृपा की एक किरण का कुछ अंश ही मिला है एवं उसे छिपाने एवं सम्भालने में मैं अपने को असफल पा रहा हूँ। यही कारण है कि मैं समाज से दूर रहना ही उचित समझता हूँ।" अस्तु। अब निम्न पंक्तियों के साथ यह कृपा प्रसंग विश्रामित है –

योगी चन्द्रमोहन सा, दुनिया में ना और कोई होगा।
इस दुनियां में क्या, किसी दुनियां में ना होगा।।
इस सृष्टि में क्या, किसी सृष्टि में ना होगा।
योगी चन्द्रमोहन सा, दुनिया में ना और कोई होगा।।

• • •

शोक संवेदना

बड़े दुःख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि खटीमा उत्तरांचल निवासी श्री आर. सी. ठाकुर का 4 जुलाई को देहावसान हो गया है। वे गुरुदेव के पुराने दीक्षित बच्चे थे। योग प्रचार में उनका बड़ा सहयोग रहता था। वे कानपुर मण्डल के सदस्यों में से एक थे। उनके दुःखी परिवारिजनों को 'सिद्धयोग' के सदस्य व आश्रमवासी अपनी हार्दिक संवेदना प्रेषित कर रहे हैं। श्री प्रभुजी इस दुःख को सहन करने की शक्ति दें। श्री प्रभु जी श्री आर.सी. ठाकुर को अपने अभय चरणों में स्थान दें ऐसी प्रार्थना है।

शोकाकुल

सिद्धयोग परिवार मण्डल

पूर्ण योग से चिर शान्ति

– डॉ. जे. पी. शर्मा, गुरु आशीष सदन, पौंटा साहिब (हिमाचल प्रदेश)

योग का अर्थ जोड़, संयोग, मिलन, मेल है। प्रायः एक का एक या अधिक के साथ मिल जाना योग कहा जाता है। परन्तु योग, समान योनि अथवा गुण, धर्म से मिलने पर सम्भव होता है। जैसे दूध में दूध, पानी में पानी, गेहूँ में गेहूँ को मिलाया जाता है तो इस तरह के योगों से मिलाई हुई मात्रा को अलग नहीं कर पायेंगे। गेहूँ में जौ के दाने मिलाने को योग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गेहूँ तथा जौ के दाने पहचाने जा सकेंगे। उन्हें पृथक–पृथक भी किया जा सकता है। योग सर्वदा वियोग में ही होता है। योग–वियोग ही जीवन है। इसमें देशकाल का अधिकार बना रहता है। आध्यात्मिक जगत में जीवात्मा का परमात्मा से मिलन को ही योग कहा जाता है। ईश्वरी जीवन में पूर्ण योग भी है तथा पूर्ण वियोग भी। सभी रूप और सभी अवस्थाओं में यह योग है। निश्चित है कि ईश्वर की सत्ता से अलग कोई सत्ता नहीं है। जिसे यह धारणा तथा ज्ञान है कि सब विस्तार एक ही ईश्वर में योग पा रहा है। वह तो सब प्रकार से अपने प्रभु में समाया हुआ है। उसका सांसारिक जीवन, अपना नहीं बल्कि ईश्वरीय जीवन है।

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः।। (ऋग्वेद, 8/44/23)

अर्थात् हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन! यदि 'मैं' तू हो जाय या फिर तू 'मैं' हो जाय तो तेरा आशीर्वाद इस संसार में सत्य हो जाय।

स्यामहं त्वं – साधक परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन! ऐसी कृपा कर कि अविद्या से आरोपित अहंभाव अर्थात् जीवभाव से मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कार द्वारा मैं अपने स्वाभाविक सत्स्वरूप ब्रह्मभाव में स्थित हो जाऊँ।

वर्षा की छोटी सी बूंद समुद्र में गिरकर मिल जाती है तथा अपने अस्तित्व को मिटा देती है तथा तुरन्त ही एक विशाल समुद बन जाती है। इसी प्रकार एक साधक परमात्मा में आत्म निवेदन द्वारा अपनी छोटी तथा परिच्छन्न अहंता का लय करके पूर्णाहंता को प्राप्त कर लेता है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान नाम रूपाद विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

अर्थात् जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम रूप त्याग कर सागर में मिलकर योग पाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम रूप से रहित होकर उत्तम से उत्तम दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। यही पूर्ण योग अथवा महायोग है।

इस पूर्ण योग से आत्म विभोर होकर साधक मस्ती में कहता है –

अणोरणीयानहमेव तद्वन् – महानहं विश्वमहं विचित्रम्।

पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो, हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि।। (कैवल्योपनिषद्, 2/20)

अर्थात् मैं अणु से भी अणु हूँ, इसी प्रकार महान से भी महान 'मैं' ही हूँ। यह विचित्र विश्व मेरा ही स्वरूप है। मैं पुरातन पुरुष तथा ईश्वर हूँ मैं ही हिरण्यमय पुरुष ब्रह्म हूँ तथा शिवस्वरूप भी मैं ही हूँ। भगवान श्री वासुदेव कृष्ण महाभाग, गोपियों की भाव समाधि का वर्णन करते हुए कहते हैं

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध–धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।

यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये, नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे।। *(श्रीमद्भागवत 11/12/12)*

अर्थात जैसे बड़े–बड़े ऋषि, मुनि, सन्यासी, समाधिस्थ होकर तथा गंगा, यमुना आदि बड़ी–बड़ी नदियाँ समुद्र में गिरकर अपने–अपने नाम–रूप, अस्तित्व को खो देती हैं, वैसे ही गोपियां अपने परम प्रेम योग के द्वारा मुझ में इतनी तन्मय हो गयीं कि उनको लोक, परलोक, अपने शरीर, पति–पुत्रादि की भी सुद–बुध नहीं रही।

नदी के पूर्ण योग पर विचार करने पर हम पाते हैं कि वह जिस हिमखण्ड पर्वत से निकली है, वहीं उसका जन्म स्थान है, वहीं से वह अपने सागर में योग पा रही है। यह स्थिति मध्य की है, उसकी अविरल धारा, उद्गम स्थान से लेकर सागर तक, सागर से ही सदा युक्त ही है। उसका आदि, मध्य और अन्त किसी भी अवस्था में वह योग शून्य नहीं है। यही उसका महायोग या पूर्ण योग है। ठीक उसी प्रकार योग साधक भी अपनी सभी अवस्थाओं में अपने प्रभु में योग युक्त हो जाता है, उसे पूर्णयोग अथवा महायोग कहा जाता है।

तस्यैवाहम्, तवैवाहम्, त्वमेवाहम्।

जो व्यक्ति परमात्मा के बारे में कुछ भी नहीं जानता, यदि वह परमात्मा की दयालुता, भक्तवत्सलता आदि सद्गुणों का श्रवण करे तो उसकी परमात्मा के प्रति प्रीति जाग उठती है और कहने लगता है 'तस्यैवाहम्'। मैं भी उसी परमात्मा का हूँ, इसलिए वह मेरी अवश्य रक्षा तथा कृपा करेंगे। वेद कहते हैं – 'तद् दूरे तद्वन्तिके' अर्थात अभक्तों के लिए परमात्मा बहुत दूर ही हैं तथा श्रद्धालु भक्तों के लिए अत्यन्त पास ही होते हैं।

दुःशासन जब द्रोपदी का चीरहरण करने लगा, तो द्रोपदी ने पुकारा – हे द्वारकानाथ, हे वासुदेव! मेरी रक्षा करो। वासुदेव आये तो द्रोपदी ने उलाहना दिया – वासुदेव! आने में इतनी देर कर दी। भगवान बोले, तुमने मुझे द्वारका से बुलाया तो कुछ समय तो लगता ही। मैं तो तेरे पास, तेरे हृदय में अन्तर्यामीरूप से मौजूद था, यदि हृदय से पुकारती तो तुरन्त आ जाता। अतः श्रद्धा तथा भक्ति से भगवान की दूरी बहुत कम हो जाती है। भक्त अपने भगवान को अपने पास ही अनुभव करने लगता है। भगवान पर विश्वास तथा अपनत्व बढ़ जाता है। उस समय कहने लगता है– 'तवैवाहम्'। हे परमात्मा मैं तो आपका ही हूँ, आपका अपना हूँ, आपका ही अंश हूँ–

पार्थ देह महँ देही जोई, सो मम अंश सनातन होई।

तिगुनमई माया महँ रहई, मन इन्द्री आकर्षन लहई।। *(गीता 15/7)*

अर्थात् हे अर्जुन! इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुण मयी माया में स्थित हुई, मन सहित पांचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है।

यह भक्ति की दूसरी सीढ़ी है।

जब साधक इस अवस्था से आगे पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है तथा परमात्मा में मिल जाता है– तद्रूप हो जाता है, तब उसे 'त्वमेवाहम्' की साक्षात परीक्षानुभूति प्राप्त हो जाती है। यही साधना की पराकाष्ठा है, परमगति है, यही महायोग है। साधक इसे प्राप्त करके गद्‌गद् हो जाता है। 'त्वमेवाहम्' 'शिवोऽहम्' 'अहंब्रह्मास्मि' कहने की चीज नहीं है। अनुभव करने की है क्योंकि इस अवस्था में न तो शब्द रहता है और न कहने वाला ही।

उस सत्स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं –

शश्वत प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं

शुद्धं समं सदसतः ण्रमात्मतत्वं।

शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो,

माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।। *(श्रीमद्भागवत 2/7/47)*

अर्थात् परमात्मा का वास्तविक स्वरूप एक रस, शान्त, अभय और केवल ज्ञान स्वरूप है। न उसमें माया का मल है और न उसके द्वारा रची विषमता ही है। वह सत और असत से परे है। किसी भी वैदिक या लौकिक शब्द की वहां तक पहुँच नहीं है। अनेक प्रकार के साधनों से सम्पन्न होने वाले कर्मों का फल भी वहां नहीं पहुँच सकता और तो क्या, स्वयं माया भी उसके सामने नहीं जा पाती, लजाकर दूर हो जाती है। त्वं वा धा–स्या अहम् – साधक भक्त कहता है कि परमात्मा ! वेद कहते हैं, तू अनन्त है, महान से भी महान है, अव्यक्त है, अदृष्ट है, अग्राह्य है, अव्यवहार्य है। ऐसी दशा में, मैं तेरी भक्ति कैसे करूं? तुझ से प्रेम कैसे करूँ? तेरे से प्रेम और तेरी भक्ति तभी कर सकता हूँ जब तू मेरे समक्ष मानव रूप में प्रकट हो जाय।

यह नितान्त सत्य है, कि परमात्मा निगुण, निराकार, निर्विशेष तथा अजन्मा है, अतः मनुष्य के मन और इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है। परन्तु यह भी सत्य है कि वह अपने भक्तों की रक्षा के लिए, उनके प्रेम के कारण, जब चाहें, मानव रूप धारण कर सकते हैं वे तो दया सागर कहलाते है, अतः भक्तों के संकट और उन्हें दुखी देखकर शीघ्र ही द्रवित हो जाते हैं और अजन्मा होते हुए भी जन्म धारण कर लेते हैं।

नारद मुनि ने युधिष्ठर के भाग्य की सराहना करते हुआ कहा, इस मनुष्यलोक में आप लोग प्रशंसनीय है क्योंकि तुम्हारे घर में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मानव रूप धारण करके गुप्त रूप से रह रहे हैं। इसी कारण संसार को पवित्र करने वाले ऋषि, मुनि बार–बार उनके दर्शन लाभ के लिए तुम्हारे घर आ रहे है। वे परब्रह्म परमात्मा तुम्हारे प्रिय हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं तुम्हारी आत्मा श्री कृष्ण हैं।

अल्पज्ञ और असमर्थ जीव जब उनकी शरण ले लेता है तब वह परमात्मा हाथ पकड़कर अपने में मिला लेता है, यही महायोग है।

यहाँ यह विचारणीय है कि जीव को ब्रह्म नहीं बनाना, क्योंकि जो बनता है, वह बिगड़ भी जाता है। जीव तो पहले ही ब्रह्म हैं। ब्रह्म को भूल जाने से ही उसे जीव की प्राप्ति हुई है। श्री सद्‌गुरु

परब्रह्म भगवान के चरण कमलों की सेवा से अथवा ईश्वर की कृपा से जब भक्त या साधक का अहंकार रूपी अविद्या का नाश हो जाता है, तब वह अपने स्वाभाविक ब्रह्मभाव में स्थिर हो जाता है। उपनिषद् कहते हैं – 'ब्रह्म वा इदमग्न आसीत् तदात्मान मेवावेत।

अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात् तत्सर्वमभवता ।। *(बृहदारण्यकोपनिषद 1/4/10)*

अर्थात् पहले भी वह ब्रह्म ही था, उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। अतः वह सर्व हो गया। आगे फिर कहते हैं कि उसे देवों में से जिसने जाना, वही तदरूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में से भी जिसने जाना वह तद्रूप हो गया।

अतः जो भी उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्ममय हो जाता है। उसके कुल में कोई अब्रह्मवित नहीं होता। वह सम्पूर्ण शोकों से अलग हो जाता है। पापों से मुक्त हो जाता है तथा हृदयग्रन्थि से मुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

एक अन्य श्रुति है – 'तदपश्यत् तद्भवत तदासीत्' अर्थात् जिसने उस ब्रह्म को देखा, वह ब्रह्म ही हो गया, क्योंकि वह पहले भी ब्रह्म था।

पूर्ण योग का अभिप्राय है कि हमें, मानो सभी रूपों, नामों, अवस्थाओं में परम पिता परमात्मा अपना योग दे रहे हैं। कहीं भी किसी तरह की दुविधा नहीं है। अगर साधक को किसी भी अवस्था में कहीं भी तनिक सी भी शंका या ग्लानि आ जाय तब समझें कि यह योग से हीनता है। परन्तु यह **शंका या ग्लानि** या **नहीं** का व्यवहार भी अपने परमात्मा का ही पूर्ण दान है। जो पूर्ण योग की पूर्ति तथा दृढ़तारूप ही है।

हिरण्याकशिपु श्री प्रहलाद की भक्ति में अवरोध करने वाले होकर भी अवरोधक नहीं थे, बल्कि हिरण्याकशिपु की गहरी दृढ़ता का कारण भी प्रभु की प्रेरणा ही थी। वह भी संसारी वियोग की अवस्था से पूर्ण योग की प्राप्ति में पहुंचने का एक साधन मात्र था। क्योंकि अपनी प्यारी चीज को छीनने वाला ही उस चीज में प्रीति बढ़ाने वाला है।

कृष्णसमीपी पोडवा गले हिमाचल जाय।
कृष्णविरहनी गोपियाँ मुक्तिधाम लिया पाय।।

अर्थात् पाण्डवों का योग बाहरी योग था तथा गोपियों का बाहरी से भीतरी योग में समाकर पूर्ण योग सिद्ध हो गया था। इसी प्रकार सभी योग पूर्ण योग में समाये हैं।

जीव तथा शिव के मध्य अहंकार रूपी अज्ञानता का पर्दा होने के कारण जीव को शिव के दर्शन नहीं होते। अतः प्राणी का अहंकार ही, अविद्या, अज्ञान तथा माया है –

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। *(गीता 7/25)*

तीनों गुणों के मिश्रण का नाम योग है। वही माया है, उस योग माया से आच्छादित हुआ। मैं समस्त प्राणी समुदाय के लिए प्रकट नहीं रहता हूँ। इसीलिए यह मूर्ख जगत मुझे जन्म रहित अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता।

अहंकार का नाश कैसे करें ?

महर्षि रमण कहते हैं –

''गवेषणात् प्राप्य हृदन्तरं यत् पतेदहंता परिभुग्नशीर्षा।
अथाहमन्यत स्फुरति प्रकष्टं नाहंकृतिस्तत् परमेव पूर्णम्।।''

यह अहंकार क्या है और कहाँ से आया? इसकी पूर्ण जिज्ञासा के साथ खोज करने के लिए अपने हृदय प्रदेश में गहरी डुबकी लगाने पर अहंकार का सिर फूटकर नीचे गिर जाता है अर्थात् अहंकार का नाश हो जाता है। उस समय एक शुद्ध परिपूर्ण तत्व की प्राप्ति होती है वही परमात्मा है।

अब आप कैसे जानेंगे कि आपके अहंकार का परिपूर्ण नाश हो गया है तथा आपको शुद्ध परिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो गया है। यह कौन बतायेगा?

महर्षि रमण फिर कहते हैं–

''लयविनाशने उभयरोधने। लयगतं पुनर्भवति नो मृतम्।''

अर्थात् अहकर के लय हो जाने पर तथा उसके नाश होने पर तत्काल तो उसकी प्रतिक्रिया रुक जाती है, परन्तु लय हुआ अहंकार फिर से जाग उठता है, मरा हुआ नहीं उठ सकता। इसी भाव पर कबीरदास कहते हैं–

मैं जानूँ मन मर गया मर कर हुआ भूत। मूवे पीछे जी उठा ऐसा मेरा पूत।।

श्रीमद्भागवत (10/51/61) में भी कहा गया है –

**युञ्जानानाभयक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
अक्षीण्यवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्।।**

अर्थात् भगवान कहते हैं जो लोग मेरे भक्त नहीं होते वे चाहे प्राणायामादि के द्वारा अपने मन को वश में करने का कितना ही प्रयत्न कर लें, उनकी वासनायें क्षीण नहीं होती तथा उनका मन पुनः विषय भोगों की तरफ चल पड़ता है। अतः ऐसे साधक को पुनः जन्म धारण करना ही पड़ता है, क्योंकि प्रकृति में लय होने से मुक्ति नहीं मिल पाती।

महर्षि पतंजलि (योग सूत्र 1/19) में इस पर कहते हैं –

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्। अतः साधकों को प्रकृति लय से बचना चाहिए। शून्य ब्रह्म नहीं है अतः शून्य से साधक को आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ब्रह्म तो शून्य से आगे की अवस्था है। अतः योग में ब्रह्म की प्राप्ति ही महायोग या पूर्णयोग है। ब्रह्मत्व प्राप्ति के बाद साधक कभी भी जन्मधारण नहीं करता ठीक उसी प्रकार जैसे नदियों का जल सागर में पूर्णयोग के बाद पुनः नदी में वापिस नहीं आता। जैसे नदियों के जल का अन्तिम ठहराव सागर है ठीक उसी प्रकार जीव का अंतिम पड़ाव ब्रह्म की प्राप्ति है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

● ● ●

पूजा का स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता

– श्रीमती पद्मा बिन्नी, काव्यतीर्थ

पूजा शब्द के उच्चारण से ही एक व्यापकता एवं आदर की भावना का जन्म होता है। भारतीय संस्कृति एवं आचार–व्यवहार से ओत–प्रोत एवं घुले–मिले "इस शब्द का हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है, ऐसी प्रतीति होती है। पूजा के व्यावहारिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तीनों स्वरूपों पर हम दृष्टिपात करें तो समझ में आने लगता है कि इन तीनों ही रूपों में वह हमें कितना ज्यादा प्रभावित करती है, जीवन को सुचारु पथ पर चलने की प्रेरणा देती है, उस व्यापक अलौकिक शक्ति जिसे हम परमात्मा कहते हैं, को, पहचानने में हमारी सहायता करती है एवं जीने की कला सिखलाती है।

वैदिक काल से ही पूजा का प्रचलन हमारे यहाँ है। ऋग्वेद में प्रार्थना एवं पूजा का उल्लेख है। विभिन्न मन्त्रों के माध्यम से अनेक देवी–देवताओं का आवाहन किया जाता है जो आज भी प्रचलित है। यह कल्पना की जाती है कि हमारा पूज्य आ गया। अपनी भावना में मन को विशेष ढंग से संयत और एकनिष्ठ करके प्रार्थना द्वारा लोकोत्तर अद्वितीय प्रतीक का आश्रय लेना, जहाँ मन स्वयं रम जाता है। मन एकाग्र हुए बिना उसका विकास नहीं होता या शक्तियाँ नहीं खिलतीं। इसलिए मन को एकाग्र करना चाहिए। मन आकार के बिना एकाग्र व स्थिर नहीं होता, उसे अवलम्बन की जरूरत होती है। उसे जिसका अवलम्बन दोगे, उसके गुण–दोषों का असर उस पर होगा। जिस प्रकार जड़ का चिंतन करने वाला जड़, स्त्री का चिंतन करने वाला स्त्रैण होगा उसी तरह भगवद्–स्वरूप चिंतन करने वाला मनुष्य दिव्य होगा। इसीलिए अन्य किसी का ध्यान करने की अपेक्षा भगवान का ध्यान हितावह है। मन एक साथ दो स्थानों पर नहीं रह सकता। अतः साधना के प्रारम्भ के पूर्व भगवान स्वरूप पर मन एकाग्र करना आवश्यक है। धूप, दीप, प्रार्थना, दर्शन ये सब भगवान् की खुशामद न होकर मन को स्थिर करने की हमारी तैयारी का एक भाग है, ऐसा हमें समझना चाहिए। दर्शन करने से बार–बार भगवान का एक चित्र हमारे मानस–पटल पर अंकित होता है, उससे ध्यान करने में सुगमता होती है। प्रार्थना या भजन प्रभु के प्रति हमारा आकर्षण बढ़ाते हैं; धूप, दीप, फूल मन को प्रसन्न करते हैं एवं प्रफुल्लित मन प्रभु के चरणों में शीघ्र प्रवेश पाता है।

हमारे मन का बहुत–सा हिस्सा अज्ञात है। मन का छोटा हिस्सा ही वश में नहीं हो पाता तो विशाल कैसे बँध पायेगा। प्रभु में केन्द्रित होने पर ही मन विशुद्ध होगा। अतः मन भगवान् को अर्पित करना ही उचित है –

'मय्यावेश्य मनो ये' जिसने भगवान को मन, बुद्धि अर्पण किये हैं, उनके ही संकल्प शुभ एवं निर्णय शुद्ध होते हैं। कार्य के हेतु को विशुद्ध करने में भक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा है और

किसी भी क्रिया की महानता उसके हेतु से जानी जाती है। अतः भगवान् हमारा हेतु पवित्र रखें, इस भाव से भक्ति करनी चाहिए।

भगवान के साकार स्वरूप में मन को स्थिर रखने की साधना, मनुष्य का प्रयत्न और उसके बाद साकार का तिरोभाव और पूर्णता की अनुभूति यही मानव जीवन की सर्वोच्च अवस्था का दर्शन है।

वैज्ञानिकों का भी यह मत है कि ध्वनि अव्यक्त जगत् में एक आकृति को जन्म देती है। अतः देवता एवं भक्त का अभिन्न सम्बन्ध है। आवाहन के पश्चात् आसन, अर्घ्य, स्नान, जल, वस्त्र, विलेपन, धूप, दीप, नवेद्य आदि अर्पित करके उसकी पूजा करते हैं, यह है षोडषोपचार। फिर स्तुति करते हैं। अपनी प्रार्थना उसे सुनाते हैं, अपने ऊपर आये संकटों का निवारण करने की माँग करते हैं, वर माँगते हैं, यह भारतीय पद्धति है। इसी प्रकार अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायों में भी पूजा का विधान है, लेकिन वस्तु–परक नहीं – जैन, बौद्ध, आर्यसमाजी आदि।

उद्देश्य तो सभी का एक है, लेकिन वह पूजा जो ईश्वर की खोज एवं उसको पाने की उत्कट अभिलाषा को जन्म देती है, कितना आनन्ददायिनी होती होगी?

परमात्मा कौन? कितना बड़ा प्रश्न है। जितनी बार यह नाम लो उतनी बार उभर कर व्यापक रूप में हमारे सामने आता है। एक तरह की अकथनीय, अज्ञात शक्ति सर्वत्र व्याप्त है जो सब प्राणियों पर शासन करता है, वह परमात्मा है। यह शक्ति सबको एक में बाँधकर रखती है। उसका दर्शन तब होता है जब चरित्र में पवित्रता, वासना की शान्ति एवं सिद्धियों की उपेक्षा होती है। मनुष्य बाहरी साधनों द्वारा जितना सात्विक एवं शुद्ध बनेगा उतना ही ईश्वर के निकट आयेगा। हृदय में राग–द्वेष आदि दोष न हों। हिंसा, चोरी, व्यभिचार व्यवहार में न हों, तभी सच्ची ईश्वर–पूजा होती है। जीवन में धर्मतत्व की स्वीकारोक्ति से ही जीवन निर्दोष, निरापद और परमानन्दमय बनता है।

मनुष्य के इतिहास में लाखों वर्षों से जीवन उत्कर्ष और हितसाधन की न जाने कितनी प्रवृत्तियाँ आयी गयीं, लेकिन धर्माश्रयी रूप में कोई अन्तर नहीं आया। धर्म की सभी प्रवृत्तियाँ जो मनुष्य ने अपने जीवन के आरम्भ में जानी, आज भी विद्यमान हैं। मूल रूप में ईश्वर हमारी आवश्यकता है। अतः मन ईश्वर को अर्पित करना उचित है। गीता –

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम्।।

मनुष्य स्वयं असहाय है। उसका परम सहायक है ईश्वर। वह घट–घटवासी है। जैसे ही मन अपनी ऐंठन जरा ढीली करेगा उसकी व्यापकता सबकी समझ में आ जायेगी। ईश्वर को जानना एक प्रकार से स्वयं अपने को जानना है और जब हम उसको जान लेंगे तो –

जानत जेहि तेहुँ देऊ जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई।।

स्वयं भी वैसा बनने का वैसा ही आचरण करने की कोशिश करेंगे। यह एक मान्य विषय

है कि हम जिस कर्म का अभ्यास करेंगे उतना ही हमारा विश्वास दृढ़ होता है। हमारे घरों में बचपन से ही पूजा के अभ्यास की शिक्षा माताओं द्वारा दी जाती है। प्रातः उठो, स्नान करो, फिर आसन पर बैठकर पूजा करो। इस प्रकार पूजा बच्चों की बाल्यसखी बन जाती है, जिसे वे जीवन भर याद रखते हैं। लेकिन यहाँ कोई इम्पोजीसन या मॉरेल ब्राइंडिंग नहीं है। हाँ, परवश अवश्य है। बचपन में भोलेपन में संस्कार अवश्य पड़ते हैं, किन्तु बड़े एवं प्रबुद्ध होने पर उसको स्वीकार करना या न करना अपनी इच्छा है। बाद में वह जीवन की एक आवश्यकता का सा रूप ले लेता है। यदि बचपन के इस अभ्यास को जीवन के हर पल से जोड़ दें जैसे – भूखे को भोजन देकर, नंगे को वस्त्र देकर, चिंताग्रस्त को मीठे शब्दों में आश्वासन देकर, अशिक्षितों को शिक्षा देकर, तो हम सच्चे अर्थों में भगवान की पूजा करते हैं। अपने समस्त जीवन को भगवत्पूजन रूप बना सकते हैं। इस मार्ग का अवलम्बन बालक–वृद्ध, गरीब–अमीर, विद्वान्–मूर्ख, स्त्री–पुरुष सभी कर सकते हैं। जो भी क्रियमाण कर्म हमारे द्वारा किये जाते है, उन सबको विशुद्ध बनाकर अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति में भगवान का दर्शन कर सकते हैं। सबको प्रभु के ही रूप में देखकर हमारे द्वारा किया हुआ हर आचरण सर्वांगीण हो जायेगा और प्रभु की सच्ची पूजा करके हमारा जीवन कृत–कृत्य हो जायेगा।

प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध अनादि है। सदा एकरस स्थिर रहने वाला है। यह सम्बन्ध अत्यन्त निर्मल अपरिसीम एवं प्रेम से परिपूर्ण है। उनके प्रेम की शक्ति सामर्थ्य की भी सीमा नहीं है, वह भी अनन्त असीम है। वे सर्व समर्थ हैं, सर्वज्ञ है, अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का अणु–अणु जानते हैं। उनसे इसीलिए कभी तनिक–सी भी भूल नहीं होती। यदि ऐसे प्रभु के साथ हम अपने नित्य सम्बन्ध को जान लें एवं उन पर एकमात्र भरोसा करके अपने कार्य–क्षेत्र में उतरें तो सफलता, आनन्द और संतोष आगे से आगे हमें वरण करने के लिए तैयार खड़े मिलेंगे और हमारे द्वारा भगवान की सच्ची पूजा हो सकेगी। यदि सफलता मिलने पर स्वयं कर्ता समझकर गर्व करेंगे तो जीवन में यथार्थ कल्याण सम्भव नहीं होगा।

पूजा के तीन प्रकार है – सत्यगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी। हमारी इन्द्रियाँ स्वभाव से ही बहिर्मुखी होती हैं। जब तक इन्द्रियों का प्रवाह बाहर की ओर से मुड़कर अंतर्मुख न बन जाये, प्रभु की ओर नहीं हो सकता। हमारी इन्द्रियाँ प्रगाढ़ तमोगुण की ओर दौड़ती रहेंगी, जिनको उखाड़कर प्रभु में दृढ़ आस्था करनी होगी। हृदय में भगवान की ज्योति जल उठेगी। विश्व के कण–कण में प्रभु अवस्थित है। सर्वत्र एक अखण्ड सत्ता, आत्मसत्ता एवं भगवत्सत्ता की अनुभूति होगी। यह पूजा का सात्विक रूप है जिसे हमें उभारना है। इस स्थिति में प्रत्येक वस्तु हमारे नेत्रों के सामने भगवान की परम आनन्दमयी बनकर उपस्थित होगी। उस अवस्था में उच्चकोटि का भक्त भगवान की स्तुति करते हुए उनसे तदाकार होकर कहता है –

हे प्रभु ! मेरे शरीररूपी मंदिर में तुम्हीं आत्मा रूप से विराजमान हो। मेरे प्राण तुम्हारे सहचर हैं। शरीर में रहने वाली इन्द्रियों के कौओं द्वारा निरन्तर तुम्हारा ही पूजन होता रहता है।

निद्रा ही समाधि है। चरणों का संचरण परिक्रमा है। वाणी द्वारा उच्चारण किये हुए शब्द तुम्हारी स्तुति है। इस प्रकार मेरे द्वारा कायिक, मानसिक व वाचिक जो भी क्रियाएँ हो रही हैं सभी में तुम्हारा पूजन हो रहा है। ऐसी स्थिति को उभारने से ही सच्ची भगवत्पूजा होती है।

एक स्थिति वह भी है जब मनुष्य सत्कर्म की प्रेरणा से अच्छे कृत्यों में प्रयत्नशील रहता है। जैसे जनोपयोगी इमारत, अस्पताल, वाचनालय, स्कूल–कॉलेज आदि का निर्माण परोपकार करके। यदि हम अपनी राजस सत्कर्म करने की प्रवृत्ति को पहचानकर किसी भी साधन से किसी भी देहधारी को सुख पहुंचाते हैं तो एक प्रकार से वह भगवत्पूजन ही है। सभी देहों में जीव रूप से एक ही प्रभु विराजते हैं। अतः किसी को भी सुख पहुंचाना प्रभु को सुख पहुंचाना है। इस प्रकार के पूजन का भगवान के यहाँ बहुत आदर होता है। यदि भगवान की ओर सत्कर्मों का झुकाव नहीं होता तो मनुष्य में अहंकार का जन्म होता है। यदि पूजा की सच्ची चाह मन में होगी तो चींटियों को अन्न खिलाने से लेकर भूखे को भोजन, नंगे को वस्त्र, चिंताग्रस्त को मीठे शब्दों का आश्वासन, अशिक्षितों को शिक्षा आदि राजन सत्कर्मों को हम विश्वरूप भगवान की पूजा के रूप में देखेंगे। उनकी महत्ता को सच्चे अर्थ में पहचानने लगेंगे। यदि हम चिकित्सक हैं तो रोगी में प्रभु की झाँकी करके, यदि शिक्षक हैं तो प्रत्येक छात्र में प्रभु को विराजित देखकर, वकील हैं तो वादी–प्रतिवादी में अपने इष्टदेव की अभिव्यक्ति देखकर अपने जीवन को पूजामय बना सकते हैं। इस प्रकार सभी को प्रभु के रूप में ही देखकर यदि हम अपने आचार व्यवहार से उन्हें सुख पहुंचाने की चेष्टा करेंगे तो हमारी पूजा अहन्ता–ममता से रहित सर्वांगीण हो जायेगी। प्रभु की सच्ची पूजा करके सदा के लिए कृत–कृत्य हो जायेंगे।

रोगादि जनित क्लेशों से अन्तःकरण यदि आवृत्त हो जाता है तो तामसी प्रवृत्तियों का जन्म होता है। फलतः मनुष्य ईश्वर के सम्मुख नहीं झुक पाता। जब तक अविद्या, अस्मिता, राग–द्वेष और अभिनिवेश, अन्तःकरण से नहीं निकल जाते तब तक मन निर्मल नहीं हो पाता और हमारे भगवत्पूजन में गत्यावरोध हो जाता है। भगवान का पूजन अधूरा रह जाता है। इस समय –

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात् जो व्यवहार प्रतिकूल लगे उसे दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए, बल्कि तामसी प्रवृत्तियों को उखाड़कर अपने को उनसे मुक्त करना चाहिए। ईश्वर के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति ही पूजा है। अहंता, ममता के भेद को भूलकर परमात्मा के सम्मुख अपने आपको पेश करना एवं बहुत ही निश्छल सहज भाव से अपने आदर की भावना को उन्हें समर्पित करना उनसे हमारा नित्य का गहरा सम्बन्ध है। सनातन काल से चला आ रहा है – जैसे बच्चा बाल–सुलभ स्वभाव से अपने माता–पिता के सम्मुख मचलता है, अपनी इच्छानुकूल चीजों की मांग करता है, उसी प्रकार परमात्मा के सम्मुख खुले हृदय से हम अपनी स्वाभाविक कामनाओं को रख ही सकते हैं। पुराने काल में ऋषि–मुनियों ने, राजा–महाराजाओं ने ''शोदेहि'' आदि

माध्यमों से भगवान से माँगा तो इसमें बुराई क्या है। यदि हम उससे जिसे हमने अपना सर्वस्व समझा है नहीं माँगेंगे तो किससे माँगेंगे। वही तो हमारा सर्वस्व है, हमारा अपना है, भेद नहीं है, कि अपने से माँग रहे हैं या जिससे माँग रहे हैं उसको अपना मान रहे हैं।

निष्कामता की और अति वैराग्य की बात जहाँ आती है वहाँ स्वाभाविक सरलता का हनन हो जाता है। जितनी सीधी सच्ची भावनापूर्ण है, यहाँ कहीं भी अस्वाभाविकता या बनावटीपन नहीं है। हमारी ईश्वर के प्रति पूजा का यही स्वरूप होना चाहिए।

पुराने जमाने में यज्ञ आदि जो कर्मकांड किया जाता था। भगवान से एकतरफा सम्बन्ध नहीं था। आदान–प्रदान की भावना थी। यदि हम ऐसा कर रहे हैं तो बदले में तुम ऐसा करो। जैसे–चढ़ा रहे हैं, मंत्रोच्चार द्वारा तुम्हें आदर दे रहे हैं, बलि द्वारा तुम्हें नैवेद्य दे रहे हैं तो बदले में तुम मुझे यश दो, पुत्र दो, शक्ति दो आदि। इसमें क्या बुराई है यदि हम अपने पूज्य से आदर सम्मान व्यक्त करके सम्बन्ध निभा हैं तो निकटता का बोध अधिक होता है। भक्त और भगवान के बीच का फासला कम हो जाता है। इम्पोजीशन की भावना नहीं रहती। मॉरेल बाइंडिंग तो है नहीं कि तुम्हें ऐसा करना ही है। यह तो अपने से अधिक शक्तिशाली, अपने से अधिक प्रतिभाशाली, सर्व शक्तिमान के प्रति आदर की अभिव्यक्ति है। पुरानी पद्धति थी षोडशोपचार की – यदि कोई अतिथि भी घर आया तो आसन, मधुपर्क, नैवेद्य, पत्र, पुष्प, फल–फूल, माला, धूप, दीप आदि देकर उसका आतिथ्य करते थे। पद–प्रक्षालन करते थे।

"अतिथि देवो भव" यह भावना थी। उसको भी देवता माना जाता था। अभी भी आदर–सम्मान देना, चरण स्पर्श करना, सिर झुकाना, नमस्कार करना प्रचलित ही है। इसकी संस्कृतियाँ दूसरे देशों में भी प्रचलित है, जैसे – हाथ मिलाना, गुड मॉर्निंग कहना, 'हैलो' कहना। जब नित्य प्रति दिनचर्या में यह सम्मिलित था और है तो भगवान के लिए कुछ अधिक है ऐसा तो नहीं –

हम धूप, दीप, नैवेद्य, फल–फूल, वस्त्र एवं आरती द्वारा यदि उनका सत्कार करते हैं तो ये उपकरण चापलूसी के नहीं नित्य प्रयोग में आने वाले हैं। उनके माध्यम से हम अपनी आदर, सम्मान, मैत्री की अभिव्यक्ति करते हैं, खुशामद नहीं करते। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शका, घण्टा, फूल, चरणवन्दन, समर्पण मनोयोगपूर्वक उसमें निष्ठा, विश्वास हैं। ऊपरी बनाव नहीं है, ऐसी प्रतीति स्वयं होने लगती है।

ईश्वर हमसे भिन्न तो नहीं लेकिन प्रेरक शक्ति अवश्य है। जो जीवन के हर क्षेत्र में अपनी हर विद्याओं से हमें अत्यधिक प्रभावित करती है। यदि हम उस महान शक्ति के साथ गहन सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं तो उसके लिए कोई नियम, कोई कानून हो इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह स्वतः ही हमारी प्रेरणा है। पूजा द्वारा उस परम शक्तिशाली ईश्वर से हमारा गहन सम्बन्ध स्थापित होता है। वह माध्यम है– ईश्वर को जानने का, पहचानने का, अपना बनाने का, यहां कोई मॉरेल या लीगल प्रतिबन्ध तो है नहीं कि ऐसा मन्त्रोच्चारण करना

ही होगा, ऐसा आचरण करना ही होगा, इतना समय आराधना, वन्दना में, लगाना ही होगा। जब ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं तो वह पूजा अन्धविश्वास और ढकोसला बन जाती है। किन्तु यदि भावनापूर्ण हृदय से जब बिना किसी तनाव या प्रतिबन्ध के हम ढकोसला को स्वाभाविक कर्म बना लेते हैं। तो वह विश्वास के रूप में बदल जाता है। वैसे देखा जाय तो जीवन के हर व्यवहार में ढकोसला है। किन्तु जब भाव के साथ जुड़ जाता है। ऐसे ईश्वर के प्रति किये गये व्यवहार अर्थात् पूजा को हम सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही कहेंगे। उसमें जो समर्पण है उसकी अनुभूति ही हो सकती है। इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता।

● ● ●

विश्वास करो – भगवत्कृपा तुम्हें अपनाने, तुम पर बरसने, तुम्हें अपनी महान् मधुर और शीतल छाया का आश्रय देने के लिए सदा–सर्वदा तैयार है तथा वह यह भी नहीं देखती कि तुम्हारा पूर्व इतिहास, अब तक का आचरण कैसा है? तुम पुण्यात्मा हो या पापी, तुम सात्विक हो या तामस, तुम ब्राह्मण हो या चाण्डाल, तुम देवता हो या दानव, तुम हिंदू हो या मुसलमान, तुम धनी हो या गरीब और तुम पंडित हो या मूर्ख–वह तो केवल देखती है तुम्हारे अंदर का भाव। यदि तुम सचमुच अन्य सारे साधनों से हताश–निराश होकर और एक विश्वास भरोसे के साथ उसकी ओर निहार रहे होंगे तो वह उसी क्षण तुम्हें अपना लेगी, तुम पर चारों ओर से बरस पड़ेगी और तुम्हें अपनी सुखद छाया का आश्रय देकर निश्चिन्त, निर्भय और निष्काम बना देगी। तुम्हारी कोई भी कामना अपूर्ण नहीं रहेगी उस समय, परन्तु तुम्हें कामना और पूर्ति का भ पता नहीं रहेगा। तुम उस समय उस कृपाशक्ति की पवित्र लहरों के साथ घुल–मिलकर स्वयं पवित्र कृतार्थ रूप हो जाओगे।

भगवत्कृपा / गुरुकृपा

— प्रो. ऋषिराम शर्मा

शीतोष्णसुखदु:खेषु समः संगविवर्जित:।।
तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् मे प्रियो नरः।।

(गीता 12/13–19)

अर्थात् ज्ञानचक्षु के अधिकारी साधक में गुरुकृपा / परमात्मकृपा पाने के लिए जिस अनन्य भक्ति की परमावश्यकता है उसके यह लक्षण हैं। अनन्य भक्ति का अर्थ है – **''अनन्यता लोकवेदव्यापारन्यास:।।''** इसका तात्पर्य है कि अनन्य भक्त की मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ लोकव्यवहार तथा वेदोक्त धर्मव्यवहार में पूर्णत: निर्लिप्त तथा निरासक्त रहती हैं। यह संसार तथा उसमें होने वाला व्यवहार सब कुछ मनोवृत्तिमय है। यदि मनोवृत्ति अपने आराध्य में प्रेमरूपा है तब संसार में आसक्ति, मोहममता अथवा भोगभावना स्वत: समाप्त हो जायेगी। जैसा कि अचेतावस्था अथवा सुषुप्ति में मन तथा बुद्धि के प्राण में लय हो जाने पर संसार नहीं रहता, केवल तमोगुणी आवरण के कारण अज्ञानावस्था रहती है। किन्तु प्रेमरूपा वृत्ति में सतोगुण के प्रकाश के कारण ज्ञानावस्था बनी रहती है। इस स्थिति में साधक निरोध समाधि जैसे चित्त में अपने आराध्य देव के दिव्य दर्शन करता है। समस्त प्राणियों में वह उसी स्वरूप को देखता है। अत: किसी से द्वेष नहीं करता, सब में मित्रभाव रहता है, करुणा की वर्षा होती है, किन्तु सतोगुणी ज्ञान में सांसारिक पदार्थों में मोहममता तथा कर्तापन का अहंकार नहीं रहता, कामनारहित होने से सन्तुष्ट तथा योगनिष्ठ रहता है, मन तथा बुद्धि अपने आराध्य देव में समर्पित होने के कारण अक्षय सुख का अनुभव करता है, किसी अन्य से वैरभाव अथवा कैसी भी अपेक्षा न होने के कारण शुद्ध चित्त में भोगवासना के विकारों से मुक्त रहता है, मन विकल्परहित तथा शान्त रहता है, शुभ–अशुभ, सुख दु:ख, मान तथा अपमान, सर्दी–गर्मी अथवा राग–द्वेष आदि सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होकर यदृच्छालाभसन्तुष्ट, एकान्ती मौनव्रतधारी, घर–परिवार की चिन्ता से मुक्त तथा एकाग्रचित से जो परमात्मा की भक्ति में प्रतिक्षण निमग्न है वही परमात्मकृपा/गुरुकृपा का अधिकारी है। शास्त्र का यह स्पष्ट निर्देश है कि –

यस्य देवे पराभक्ति: यथा देवे तथा गुरौ। तस्मै: ते कथिता: ह्यर्था: प्रकाशन्तेमहात्मनः।।

अर्थात् जिसकी परमात्मा तथा गुरुदेव में समानभाव से अनन्यभक्ति है उसी के चित्त में अध्यात्मप्रसाद प्रकाशित होता है। यही विद्या तथा अविद्या स्वरूपणी माया का निश्चित नियम है।

● ● ●

स्वास्थ्य

योग-आसन

कुक्कुटासन

पद्मासनं समासाद्य जानवोरन्तरे।

करौ कूर्पराभ्यां समासीनं मञ्चस्थ कुक्कुटासनम्।।

विधि - पद्मासन लगाकर सीधे बैठने पर जंघा स्थान में जहाँ दोनों पैरों के पंजे रखे हैं उनसे आगे पंजे व पिंडलियों के बीच में से अपने हाथों को निकालें व उत्थित पद्मासन की ही तरह अपने दोनों बाजुओं पर सारे शरीर को तौल दें, जितना हो सके गर्दन को उठाकर छाती को सामने निकाली हुई रखने का प्रयत्न करें। इसी का नाम कुक्कुटासन है।

समय - अपने शरीर का बलाबल देखकर आधे मिनट से पाँच सैकन्ड बढ़ाते हुए दो मिनट तक ले जाओ।

फल - पद्मासन वाले व उत्थित पद्मासन वाले सभी लाभ इसके करने से होते हैं। एक बात विशेष है कि यदि साधक थोड़ा अश्वनी मुद्रा के ढंग से अपनी गुदा आकुंचन व प्रसारण करता रहे तो पूर्ण आरोग्य देता है एवं स्तम्भन को बढ़ाता है।

●●●

स्वास्थ्य

योग-आसन

मत्स्यासन

मुक्त पद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत,

कूर्पराभ्यां शिरोवेष्टय मत्स्यासनं तुरोगदर।

अर्थात् मुक्त पद्मासन लगाकर सीधा लेट जायें व अपने दोनों हाथों को कोहनी से आगे के हिस्सों को परस्पर वेक्रित करके शिर के नीचे लगा लें। यह सर्व रोग नाशक मत्स्यासन है। (अथवा अपने दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़कर कोहनियाँ जमीन में लगाकर पेट और छाती को ऊपर की ओर निकाल कर गर्दन को मोड़कर पीछे की ओर उत्तान देने की भी प्रणाली प्रचलित है।)मत्स्यासन का यह रूप सर्वसाधारण के अभ्यास के लिए अत्यन्त सरल है एवं इस आसन को लगाकर शरीर के सन्तुलन को ध्यान में रख कर यदि जल पर इसी प्रकार लेटे रहने का अभ्यास कर लें तो आराम से लेटा जा सकता है। बड़ा आनन्द आयेगा। वृत्ति स्वतः ही एकाग्र हो जायेगी। जो व्यक्ति तैरना न जानता हो उसे हो थोड़े जल में इसका अभ्यास करना चाहिए।

समय - आधे मिनट से पाँच-पाँच सैकेन्ड बढ़ाते हुए दो मिनट तक।

लाभ - उर विकारों के लिए लाभप्रद है।

श्रीगीतामृत - पदावली

लेखक – रामप्रकाश गुप्ता, हल्द्वानी, प्रेषक – डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी, गोरखपुर

॥ गीताजी की आरती ॥

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि–हिय–कमल – विहारिणि सुन्दर सुपुनीते॥ जय.॥

कर्म–सुकर्म–प्रकाशिनि कामासक्तिहरा।
तत्वज्ञान–विकाशिनि विद्या ब्रह्म धरा॥ जय.॥

निश्चल भक्ति–विधायिनी निर्मल मलहारी।
शरण–रहसरु–प्रदायिनि सब विधि सुखकारी। जय.॥

राग–द्वेश–विदारिणि कारिणि मोद सदा।
भव–भय–हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा॥ जय.॥

आसुर–भाव–विनाशिनि नाशिनि तम–रजनी।
दैवी सद्गुण–दायिनि हरि–रसिका सजनी॥ जय.॥

समता, त्याग सिखावनि हरि–मुख की बानी।
सकल शास्त्र की स्वामिनि, श्रुतियों की रानी॥ जय.॥

दया–सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरि–पद–प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥ जय.॥

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सदुपदेश

(अमृतवाणी से साभार)

साधना

• छिछले तालाब का पानी पीना हो तो उसे न खलबलाकर ऊपर से धीरे–धीरे पानी लेना चाहिए। ज्यादा खलबलाने से नीचे का कीचड़ ऊपर आकर सारा पानी गँदला हो जाता है। यदि तुम सच्चिदानन्द का लाभ करना चाहते हो तो गुरु के उपदेश पर विश्वास रखकर धीरज के साथ साधना किए चलो। वृथा शास्त्रविचार या तर्कवितर्क में मत पड़ो, नहीं तो तुम्हारी क्षुद्र बुद्धि गड़बड़ा जाएगी।

• यदु मल्लिक का मकान कहाँ है, बगीचा कहाँ है, उसके पास कितनी धन–सम्पत्ति है इन सब बातों की खोज–खबर बहुत लोग किया करते हैं, परंतु प्रत्यक्ष यदु मल्लिक को देखने या उसके निकट जाकर बातचीत करने का कष्ट कितने लोग उठाते हैं! शास्त्रचर्चा, धर्म–सम्बन्धी चर्चा तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु इनमें से कितने लोग ईश्वर के दर्शन करने की इच्छा रखते हैं या उनके निकट जाने के लिए उद्यम करते हैं?

• तुम जो वस्तु प्राप्त करना चाहते हो उसके अनुरूप साधना करो, नहीं तो कैसे होगा? 'दूध में मक्खन है' कहकर सिर्फ चिल्लाने से मक्खन नहीं मिल जाएगा, यदि मक्खन चाहते हो तो दूध का दही जमाओ, उसे अच्छी तरह मथो, तभी मक्खन निकलेगा। इसी तरह, यदि तुम ईश्वरदर्शन करना चाहते हो तो साधना करो, तभी उनके दर्शन पाओगे। 'ईश्वर ईश्वर' कहकर सिर्फ शोरगुल मचाने से क्या फायदा?

• यदि राजा से मिलना हो तो उसके महल में जाकर सातों ड्योढ़ियों को पार करना होगा। परन्तु यदि पहली ही ड्योढ़ी पार करके कोई कहे, ''राजा कहाँ है?'' तो कैसे होगा! सातों ड्योढ़ियों को पार करने के बाद ही न राजा दिखाई देंगे।

• कर्म चाहिए, तभी ईश्वरदर्शन होते हैं। एक दिन मैंने भावावस्था में हालदार–पुकुर देखा। देखा, एक नीची जाति का आदमी काई हटाकर पानी भर रहा है और बीच–बीच में एक–एक बार हाथ में लेकर देख रहा है। मानो उसने यह दिखाया कि काई हटाए बिना पानी नहीं दिखाई देता – कर्म किए बिना भक्ति नहीं होती, ईश्वरदर्शन नहीं होते। ध्यान, जप यही कर्म है, उनका नामगुण–कीर्तन भी कर्म है और दान, यज्ञ ये सब भी कर्म ही हैं।

• स्वयं श्रीकृष्ण ने भी राधायन्त्र लेकर कितनी साधनाएँ की थीं। यन्त्र ब्रह्मयोनि है, साधना यानी उसी की पूजा और ध्यान करना। इस ब्रह्मयोनि से कोटि कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि हो रही है।

• साधना की गति तीन प्रकार की होती है – पक्षी, गति, वानरगति तथा पिपीलिकागति।

पक्षीगति – मानो चिड़िया ने एक फल पर जोर से चोंच मारी, वह फल नीचे गिर पड़ा, चिड़िया उसे ले नहीं सकी। इस प्रकार कुछ साधक इतनी अधीरता के साथ साधना करते हैं कि

उनके प्रयत्न सफल नहीं हो पाते।

वानरगति – बन्दर मुँह में फल को पकड़कर एक डाली से दूसरी डाली पर कूदने गया, फल मुँह से छूटकर नीचे गिर पड़ा। साधक यदि अपने आदर्श को दृढ़ता के साथ पकड़े न रखे तो इस सदापरिवर्तनशील जीवन के विभिन्न घटनाचक्र में पड़कर कभी–कभी वह उसे खो बैठता है।

पिपीलिकागति – पिपीलिका (चींटी) धीरे–धीरे बढ़ती हुई खाद्यवस्तु के निकट जाती है और उसे मुँह में लेकर धीरे–धीरे अपनी जगह पर लौटकर उसका मजा चखती है। यह पिपीलिका गति की साधना ही श्रेष्ठ साधना है – इसमें फल की प्राप्ति और उसका उपभोग बिलकुल निश्चित है।

• जिसे मछली पकड़ने का शौक है वह अगर सुने कि अमुक तालाब में अच्छी बड़ी–बड़ी मछलियाँ हैं, तो वह पहले जिन्होंने उस तालाब से मछली पकड़ी है उनके पास जाता है और पूछता है, 'क्या उस तालाब में सचमुच ही बड़ी मछलियाँ हैं? और अगर हों तो कौन सा चारा लगाने से वे फँसती हैं?' इन सब जरूरी बातों की जानकारी इकट्ठा करके वह उस तालाब में जाकर बंसी लगाकर बैठता है। काफी समय तक धीरज के साथ बैठे रहने के बाद अन्त में उसकी बंसी में बड़ी मछली आ फँसती है। धर्ममार्ग में भी इसी प्रकार, साधु–महापुरुषों की बात पर विश्वास रखकर, भक्तिरूपी चारा लगाकर, हृदयरूपी बंसी डाले धैर्य के साथ बैठे रहना पड़ता है, तभी अन्त में भगवान की प्राप्ति होती है।

• श्रीरामकृष्ण कहा करते थे – 'क्या तुम मेरे आदेश का सोलहों आना पालन कर सकोगे? मैं जो कहता हूँ उसका एक आना भी यदि तुम कर सको तो तुम्हारी मुक्ति निश्चित है।

• आत्मज्ञानलाभ के लिए साधना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु यदि दृढ़ विश्वास रहे तो थोड़ी ही साधना से काम बन जाता है।

• एक बार यदि किसी की भगवन्नाम की शक्ति पर विश्वास हो जाए और वह सतत नाम जपने लगे तो फिर उसके लिए विवेक–विचार या अन्य किसी भी तरह के साधन–भजन की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसके सब सन्देह दूर हो जाते हैं, चित्त शुद्ध हो जाता है तथा नाम की सामर्थ्य से स्वयं भगवान का साक्षात्कार हो जाता है।

• वेद–पुराण का श्रवण करना पड़ता है, पर तन्त्र का प्रत्यक्ष अनुष्ठान करना पड़ता है। हरिनाम मुख से बोलना और कान से सुनना भी पड़ता है, जैसे किसी–किसी बीमारी में दवा खानी भी पड़ती है और लगानी भी।

• सिद्ध दो तरह के होते हैं – साधनसिद्ध और कृपासिद्ध। कोई–कोई बड़ी मेहनत करके नहर काटकर या पानी खींचकर खेत को सींचते हैं, तब कहीं उन्हें अच्छी फसल मिलती है। परन्तु किसी–किसी को पानी लाने या सींचने का कष्ट ही नहीं उठाना पड़ता, बारिश आकर खेत में अपने आप पानी भर जाता है। माया के हाथों से छुटकारा पाने के लिए प्रायः सभी को कष्टसाध्य साधन–भजन करना पड़ता है। परन्तु कृपासिद्ध को कष्ट नहीं उठाना पड़ता, ईश्वर की कृपा से वह वैसे ही मुक्त हो जाता है। परन्तु ऐसे कृपासिद्ध विरले ही होते हैं।

एकाग्रता तथा ध्यान

• ध्यान और चिन्तन–मनन का सतत अभ्यास करना चाहिए।

• सन्ध्या हो जाने पर सब काम छोड़कर ईश्वर चिन्तन करना चाहिए। अंधेरा छा जाने पर मन में अपने आप ईश्वर का विचार उठता है। ''अभी–अभी सब कुछ दिखाई दे रहा था, पर अब तो सब अंधेरे में ओझल हो गया। ऐसा किसने किया?'' इस तरह के विचार आते हैं। इसीलिए सन्ध्या के समय सब काम छोड़कर उन्हें पुकारना चाहिए। देखा नहीं, मुसलमान लोग कैसे सब काम छोड़कर ठीक समय पर नमाज पढ़ते हैं।

• अगर सरसों की पुड़िया में से एक बार सरसों के दाने बिखर गए तो फिर उन्हें चुनकर इकट्ठा करना जिस प्रकार दूभर हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का मन यदि एक बार संसार के विषयों में बिखर जाए तो फिर उसे समेटकर एकाग्र करना दूभर हो जाता है।

• ध्यान मन में, वन में या कोने में करना चाहिए।

• प्रथम अवस्था में निर्जन स्थान में जाकर एकाग्र चित्त से ईश्वरचिन्तन करना चाहिए, नहीं तो मन में नाना विक्षेप आते हैं। दूध और पानी को यदि एकत्र कर दो तो दूध पानी में मिल जाएगा; परन्तु यदि उसी दूध का निर्जन में मक्खन बना लो तो वह पानी में उतराता रहेगा – मिलेगा नहीं। इसी तरह साधना–अभ्यास के द्वारा चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर लेने पर मनुष्य चाहे जिस परिस्थिति में रहे, उसका मन उससे ऊपर उठकर ईश्वर में ही लीन रहता है।

• श्रीरामकृष्ण कभी–कभी अपने शिष्यों से कहा करते – 'ध्यान आरम्भ करने के पहले एक बार (अपनी ओर दिखाते हुए) इसका चिन्तन कर लिया करना। यह क्यों कहता हूँ जानते हो? – इस पर तुम लोगों का विश्वास है, इसलिए इसके बारे में सोचते ही भगवान की याद आ जाएगी। जैसे, गौओं के झुण्ड को देखते ही चरवाहे की बात याद आती है, वकील को देखते ही अदालत–कचहरी की बात याद आती है, बेटे को देखते ही उसके बाप की याद आती है, वैसे ही। मन नाना विषयों में बिखरा रहता है, इसके बारे में सोचते ही पूरा मन एक जगह सिमट आएगा, और उस एकाग्र मन को ईश्वरचिन्तन में लगाने पर ठीक–ठीक ध्यान हो सकेगा।'

• मन को एकाग्र करने का सब से सरल उपाय है उसे दीप की शिखा पर स्थिर करना। शिखा के सब से भीतर का नीला भाग मानो कारणशरीर है। उस पर मन को स्थिर करने से मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। इस नीली ज्योति के बाहर का भाग मानो सूक्ष्मशरीर है और उसके भी बाहर का भाग स्थूलशरीर।

• अपनी साधनावस्था का उल्लेख करते हुए श्रीरामकृष्ण भक्तों से कहा करते – ''उस समय इष्टचिंतन और ध्यान करने के पहले ऐसा सोचा करता था मानो मन को अच्छी तरह से धो ले रहा हूँ; मन के भीतर (कुचिन्ता, वासना आदि) जो कुछ मैल या गन्दगी है वह सब अच्छी तरह धोकर मन को स्वच्छ कर लेने के बाद उसमें इष्टदेव को लाकर बिठा रहा हूँ। ऐसा किया करो।''

• ध्यान करते समय ऐसा चिन्तन किया करो कि मानो तुम अपने मन को रेशम की रस्सी से इष्टदेवता के चरणकमलों के साथ बांधकर रख रहे हो, ताकि वे वहाँ से और कहीं न

जा पाएँ। रेशम की रस्सी किसलिए कह रहा हूँ? वे चरणकमल अत्यन्त कोमल हैं, दूसरी रस्सी से बाँधने पर उन्हें कष्ट होगा, इसलिए।

• ध्यान करते समय बीच–बीच में साधक को एक प्रकार की नींद–सी आया करती है, उसे योगनिद्रा कहते हैं। इस अवस्था में कई साधकों को ईश्वरीय रूपों के दर्शन होते हैं।

• सात्विक मनुष्य किस प्रकार ध्यान करता है जानते हो? वह गहरी रात के समय मसहरी के भीतर बिछौने पर बैठकर ध्यान किया करता है, ताकि कोई जान न पाए।

• ईश्वर में बिलकुल डाइल्यूट (एकरूप) हो जाओ– जैसे धातु तेजाब में गलकर एक हो जाती है।

• मन के स्थिर होने पर श्वास स्थिर होता है – कुम्भक हो जाता है। यह कुम्भक भक्तियोग के द्वारा भी होता है, तीव्र भक्ति से भी श्वास स्थिर हो जाता है।

• गहरे ध्यान में ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट होकर ध्याता के अन्तःकरण को प्रकाशित कर देता है।

• एक दिन एक मैदान पर चलते हुए अवधूत ने देखा कि सामने से ढोल–नगाड़े बजाते बजाते, बड़ी धूम–धाम के साथ एक बरात आ रही है। पास ही में एक बहेलिया दत्तचित्त होकर एक चिड़िया पर निशाना साध रहा है। वह अपने लक्ष्य में इतना तल्लीन था कि इतने नजदीक से इतनी धूमधाम के साथ आने वाली बरात की ओर उसने एक बार भी नजर उठाकर नहीं देखा। अवधूत ने उस बहेलिए को नमस्कार करते हुए कहा, "महाराज! आप मेरे गुरु हैं। जब मैं ध्यान करने बैठूँ तब मेरा मन भी इसी तरह ध्येय वस्तु पर एकाग्र रहे।"

• एक आदमी मछली पकड़ रहा था। अवधूत ने उसके निकट जाकर पूछा, 'भाई, अमुक जगह जाने का रास्ता कौन सा है?' उस समय उसकी बंसी हिलने लगी थी – मछली काँटे में लगे चारे को खाने लगी थी। वह आदमी बंसी की ओर एकटक देखते हुए निःस्तब्ध बैठा रहा। जब मछली काँटे में फँस गई तो उसे निकालकर वह अवधूत की ओर मुड़कर बोला, 'आप क्या कह रहे थे?' अवधूत ने उसे प्रणाम करते हुए कहा, 'आप मेरे गुरु हैं। जब मैं परमात्मा के ध्यान में बैठूँ तब मैं इसी तरह, कार्य सिद्ध हुए बिना दूसरी ओर ध्यान न दूँ।'

• किसी तालाब के किनारे एक बगुला एक मछली को पकड़ने के लिए बड़ी सावधानी से धीरे–धीरे आगे बढ़ रहा था, और पीछे से एक बहेलिया उस बगुले पर निशाना लगा रहा था, पर बगुले का उस ओर तनिक भी ध्यान नहीं था। अवधूत ने उस बगुले को नमस्कार करते हुए कहा, 'जब मैं ध्यान में बैठूँ तब मैं भी इसी प्रकार पीछे मुड़कर न देखूँ।'

• कहावत है कि जो ध्यानसिद्ध है उसके लिए मुक्ति निश्चित है। ध्यानसिद्ध किसे कहते हैं जानते हो? जो ध्यान में बैठते ही भगवद्भाव में विभोर हो जाता है।

• गहरे ध्यान में मनुष्य बाह्यज्ञानरहित हो जाता है। ध्यान में इतनी एकाग्रता आ जाती है कि दूसरा कुछ भी दिखाई–सुनाई नहीं देता, यहाँ तक कि स्पर्श का भी बोध नहीं रहता। इस समय यदि देह पर से साँप भी चला जाए तो न तो जो ध्यान कर रहा है उसे पता चलता है और न उस साँप को ही।

• जो ध्यान करते हुए इतना मग्न हो जाता है कि सिर पर चिड़ियों के बैठने पर भी समझ नहीं पाता, वही ठीक–ठीक ध्यान करता है।

• ध्यान गहरा होने पर इन्द्रियों के सभी कार्य बन्द हो जाते हैं। मन की बहिर्मुखवृत्ति एकदम रुक जाती है, मानो घर का बाहरी दरवाजा बन्द हो गया हो। इन्द्रियों के पाँचों विषय–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–बाहर पड़े रह जाते हैं। पहले पहल ध्यान के समय इन्द्रियों के सब विषय सामने आते हैं, परन्तु ध्यान के गम्भीर होने पर वे फिर नहीं आते–बाहर पड़े रहते हैं।

• तुम चाहे जिस मार्ग से जाओ, मन के स्थिर हुए बिना योग नहीं होता। मन योगी के वश में होता है, योगी कभी मन के वश में नहीं होता।

●●●

कर्म साधन और ईश्वर प्राप्ति साध्य

प्रकृति का धर्म है कि वह तुमसे कर्म करा ही लेती है, चाहे तुम्हारी इच्छा हो या न हो। जब ऐसा ही है, तब कर्म पूरी तरह से क्यों न किया जाय? कर्म अवश्य करो, परन्तु उसमें आसक्त न रहो। अनासक्त भाव से किया गया कर्म ईश्वर प्राप्ति का साधन है। अनासक्त कर्म को साधन और ईश्वर–प्राप्ति को साध्य वस्तु समझो।

– श्री रामकृष्ण परमहंस

दुनियाँ के वाली

– जगदीश राए बंसल ''अधम'', नई दिल्ली, मो. : 9212434003

गुरु मन्त्र जपा करो – गुरु पै भरोसा किया करो।
दुनियाँ के ये वाली हैं – पद्‌चिन्हों पर चला करो।

सिद्ध गुरु का शरणा प्यारे – एक जन्म का खेल नहीं
जन्म जनम के शुभकर्मों का – होता जब तक मेल नहीं
गुरु चरणों में पड़ा करो – गुरु दर्शन किया करो।
दुनियाँ के ये ....(1)

पल–पल तेरी उमरिया बीते – कैसे स्वासा चलती है
न जाने कब घण्टी बज जाए – कोई खबर नहीं आती है
शुभ कर्म कमाया करो – मन्द मन्द मुस्काया करो।
दुनियाँ के ये ....(2)

पांच तत्व का ये शरीरा – कब मिट्टी में मिल जाई रे
धर्म राज अंगुली उठावे – गुरु देव ही बचाई रे
गुरु रंग में रंगा करो – मंगला आरती किया करो।
दुनियाँ के ये ....(3)

गुरु चरणों में लगन लगी तो – चिन्ता किस काम की
अड़सठ तीर्थ फल पा कर – तैयारी किस धाम की
''अधम'' जय कारे लगाया करो – गुरु थपेड़े खाया करो।
दुनियाँ के ये ....(4)

●●●

पाठ से नहीं, पुरुषार्थ से गाड़ी चली

यदि मनुष्य का स्वयं का कुछ किया हुआ न हो तो स्वयं विधाता भी उसकी सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि सृष्टि का विधान अटल है। जिस प्रकार विधान बनाने वाले विधायकों को स्वयं उसका पालन करना पड़ता है, वैसे ही ईश्वरीय अवतार और महापुरुष तो क्या स्वयंभगवान भी अपने बनाए विधानों का उल्लंघन नहीं कर सकते। इससे तो उनका सृष्टि संचालन ही अस्त-व्यस्त हो जायेगा। इस संबंध में उन लोगों को सचेत होकर अपना कर्म करना चाहिये जो सोचते हैं कि भगवान सब कर देंगे और स्वयं हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें।

एक आदमी श्री हनुमान का उपासक था। एक बार वह बैलगाड़ी लिए कहीं जा रहा था। गाड़ी कीचड़ में फंस गई, वह वहीं खड़ा होकर हनुमान चालीसा का पाठ करने लगा और गाड़ी बाहर निकालने की कामना करने लगा। तभी उधर से आए एक पण्डित जी ने कहा - मित्र ! हनुमान जी संजीवनी का पता न चलने पर पहाड़ ही उखाड़ लाए थे, तुम कम से कम गाड़ी को हाथ तो लगाओ। आदमी ने थोड़ी ताकत लगाई और बैलगाड़ी बाहर खींच ले गया।

देवता हों या महापुरुष वे तब तक फल नहीं देते, जब तक मनुष्य स्वयं उन आदर्शों के परिपालन के लिए समुद्यत नहीं होता। कर्म विधान पर भी यही सिद्धान्त लागू होता है। ईश्वर उनका फल तब दे जब मनुष्य को बलवान बनाए, याचना भाव नहीं समर्पण भाव बढ़ाये।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/2009-11 August 2013

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।

(कठोपनिषद्)

परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। एक ही समय में उनमें विरुद्ध धर्मों की लीला होती है। इसी से वे एक ही साथ सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान से महान बताये गये हैं। वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाम में विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर से दूर चले जाते हैं। परमधाम में निवास करने वाले पार्षद भक्तों की दृष्टि में वहां शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं। वे सर्वत्र सब रूपों में नित्य अपनी महिमा में स्थित हैं।

संस्थापक:– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा